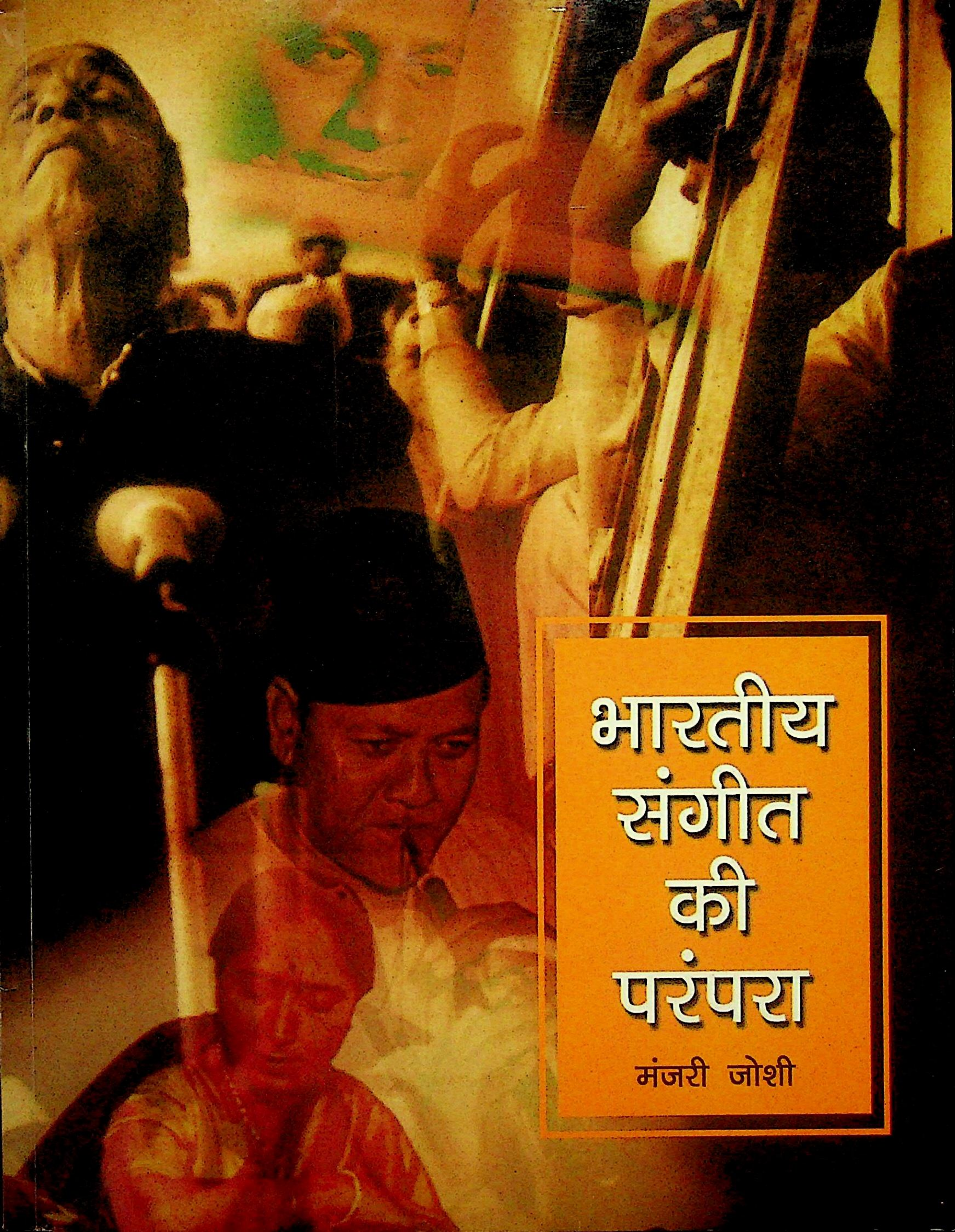


भारतीय संगीत की परंपरा

मंजरी जोशी

नेहरू बाल पुस्तकालय

भारतीय संगीत की परंपरा

मंजरी जोशी

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 978-81-237-3985-4

पहला संस्करण : 2002
नौवीं आवृत्ति : 2013 *(शक 1935)*

Bharitya Sangeet ki Parampara *(Hindi)*

₹ 40.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II
वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070 द्वारा प्रकाशित
Website : www.nbtindia.gov.in

अनुक्रम

1

संगीत कैसे पैदा हुआ?

नदी का कल-कल करता जल, सुबह-शाम चिड़ियों की चहचहाहट, झरने की झर-झर, हवा की सायं-सायं, रात के सन्नाटे में झींगुरों की झिन-झिन और आंधी में हवा की हरर-हरर की आवाजें मनुष्य आदि काल से सुनता आया है। विभिन्न पशु-पक्षियों की आवाजें भी वह सुनता आया है। इन्हीं सब ध्वनियों में उसने अंतर करना भी सीखा।

किसी वृक्ष की सूखी टहनी से जब उसने पत्थरों पर वार किया होगा तब उसने एक अलग ही ध्वनि सुनी होगी। सूखी फलियों को हिलाया होगा तो उसके अंदर से बीज़ बज उठे होंगे। पत्ती को मोड़कर उसमें फूंक मारी होगी तो उसे सीटी जैसी ध्वनि सुनाई दी होगी। मनुष्य के मन में यह बात तो जरूर आई होगी कि इन सब को बजाया जा सकता है। यहीं से वाद्यों का एक रूप उसके मन में बैठ गया होगा। आज भी न्यू गिनी के आदिवासी सूखी हुई फलियों के गुच्छे डोरी में बांधकर अपनी कमर से लपेट लेते हैं। जब वे नाचते हैं तो इन फलियों के बीज बजते हैं जिससे नृत्य में किसी और वाद्य की जरूरत ही नहीं पड़ती है।

इस युग को हम प्राक् संगीत युग कह सकते हैं जिसमें मनुष्य ने प्रकृति की ध्वनियों और उनकी विशिष्ट लय को जानने और समझने की कोशिश की। माना जाता है कि संगीत का आदिम स्रोत प्राकृतिक ध्वनियां ही हैं, लेकिन ये ध्वनियां संगीत का आधार नहीं हैं। सवाल यह है कि आखिर ऐसी कौन सी ध्वनियां हैं जो संगीत पैदा कर सकती हैं। संगीत केवल उन्हीं ध्वनियों से निकलता है जो हमारे मन में किसी न किसी भाव से उपजती हैं।

ध्वनियां कई प्रकार की होती हैं। उन ध्वनियों को जिनमें लय होती है हम संगीत के लिए उपयोगी मान सकते हैं। बाकी ध्वनियों का संगीत से कोई लेना-देना नहीं होता। कोयल की कूहू-कूहू, बरसात की रिमझिम, नदियों की कल-कल, आदि को संगीत के योग्य ध्वनियां कहा जा सकता है क्योंकि वे एक निश्चित लय पैदा करती हैं। लेकिन ये ध्वनियां संगीत नहीं हैं। ये किसी प्रकार की भावना या अभिव्यक्ति से पैदा नहीं होती हैं, भले ही सुनने वाले

के मन में कोई भाव पैदा करती हों। ये केवल मधुर लगती हैं। लेकिन यह भी सच है कि ये प्राकृतिक ध्वनियां मनुष्य के लिए प्रेरणा का स्रोत तो जरूर रही हैं। मनुष्य ने जब प्रकृति की ध्वनियों में छिपे संगीत के गुण को पहचाना होगा तो उन्हें लय में बांधने का प्रयास भी किया होगा। कहा जा सकता है कि संगीत भावव्यंजक यानी भाव प्रकट करने वाली ध्वनियों से पैदा हुआ। भावव्यंजक ध्वनियां ही संगीत का आधार हैं।

भारतीय दर्शन में संगीत के जन्म को लेकर कई रोचक कथाएं प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चारों वेदों की रचना करने वाले ब्रह्मा ने ही संगीत को भी जन्म दिया। इस युग को वैदिक युग कहा गया है क्योंकि इस युग में चार वेदों की रचना हुई। ये चार वेद हैं ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद। संगीत के विषय में ब्रह्मा ने विस्तार से सामवेद में बताया है। कहा जाता है कि उन्होंने यह विद्या शिव को सिखाई और शिव ने देवी सरस्वती को संगीत के संस्कार दिए। संगीत में पारंगत होने के बाद ही सरस्वती वीणापाणि कहलाईं। इसीलिए सरस्वती के चित्रों में उन्हें हाथों में वीणा उठाये दिखाया जाता है। स्वर्गलोक में निवास करने वाले नारद मुनि बेखटके भूलोक यानी पृथ्वी पर आया-जाया करते थे। यही नारद सरस्वती के शिष्य बने और जब संगीत की विद्या ग्रहण कर चुके तो उन्होंने यह विद्या गंधर्वों, किन्नरों और अप्सराओं को सौंपी। भूलोक पर रहने वाले भरत मुनि और अन्य तपस्वियों ने गंधर्वों और किन्नरों से संगीत का ज्ञान प्राप्त किया और पृथ्वी पर अन्य लोगों को सिखाया।

ऐसी ही एक अन्य कथा के अनुसार संगीत की रचना करने वाले ब्रह्मा नहीं बल्कि शिव थे। नारद मुनि ने शिव से संगीत सीखने के लिए कई वर्षों तक कठोर तपस्या की। शिव उनसे प्रसन्न हुए और इस शर्त पर उन्हें संगीत सिखाया कि वे इस ज्ञान को भूलोक पर फैलायेंगे। नारद मुनि स्वर्गलोक से पृथ्वी पर आये और उन्होंने तपस्वियों को संगीत का प्रशिक्षण दिया।

प्रचलित कथाओं में देवराज इंद्र की संगीत-नृत्य सभा का भी उल्लेख मिलता है। इंद्र की सभा में गायक, नर्तक और वादक सभी हुआ करते थे। गंधर्व गाते थे, अप्सराएं नृत्य करती थीं और किन्नर वाद्य बजाते थे। भारतीय संगीत की धारणा में गायन, वादन और नृत्य विभिन्न कलाएं जरूर हैं लेकिन इन तीनों का मेल ही दरअसल संगीत कहलाता है। संगीत रत्नाकर नाम के ग्रंथ में संगीत के विषय में यही कहा गया है।

"गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।।"

संगीत शब्द गीत शब्द में सम् जोड़कर बना है। सम् का अर्थ है सहित और गीत यानी गान। नृत्य और वादन के साथ किया गया गान संगीत है।

भारतीय दर्शन में संगीत केवल मन बहलाने का साधन भर नहीं है। इसे साधना माना गया है। कई विद्वानों का तो यहां तक मानना है कि संगीत का जन्म 'ॐ' से हुआ। 'ॐ' एक संयुक्ताक्षर है जो अ, उ और म तीन ध्वनियों के मेल से बना है। इन तीनों ध्वनियों को ब्रह्मा यानी उत्पत्ति करने वाला, विष्णु यानी पालन करने वाला और महेश यानी संहार करने वाला माना गया है। यही ध्वनियां सभी शक्तियों की पुंज हैं। इन्हीं से सृष्टि पैदा हुई। सृष्टि के बाद अन्य ध्वनियां पैदा हुईं, ध्वनियों से स्वर और फिर स्वरों से संगीत का जन्म हुआ। प्राचीन मुनियों का मानना था कि ब्रह्मांड में ध्वनि ही ध्वनि है। जगत के सभी प्राणियों में सूक्ष्म रूप से इसी ध्वनि की धारा बहती है। इस तरह संपूर्ण जगत ही अदृश्य रूप से संगीतमय है और पूरा वायुमंडल भी ध्वनि की तरंगों से भरा पड़ा है।

यों तो संगीत के इतिहास को जानने के लिए हम किंवदंतियों और कथा-पुराणों का सहारा लेते हैं, लेकिन प्रमाण के तौर पर प्राचीन सभ्यताओं के हमें जो अवशेष, मूर्तियां और मुद्राएं आदि मिली हैं उनसे जाहिर होता है कि इस धरती पर हजारों हजार वर्ष पहले के लोग संगीत से परिचित थे। वे गाते-बजाते थे और नृत्य भी करते थे। सबसे पुरानी सभ्यता सिंधु घाटी की सभ्यता मानी गयी है। हड़प्पा और मोहनजोदाड़ो से खुदाई में कई मूर्तियां और मुद्राएं मिलीं, जिनमें से एक मुद्रा या सील में ढोल बजाते लोग तो कई मूर्तियों और तावीजों में नृत्य की विभिन्न भंगिमाएं देखने को मिलती हैं। इनमें से एक छोटी सी मूर्ति किसी नर्तकी की है जो एक हाथ कमर पर रखकर खड़ी है और लगता है कि नृत्य करने जा ही रही है।

इसके बाद वैदिक युग आया। यही वह युग था जब वेदों की रचना की गयी। ऋग्वेद में एक जगह जिक्र आता है कि आर्यों के आमोद-प्रमोद का मुख्य साधन संगीत था। कई प्रकार के वाद्यों का आविष्कार ऋग्वेद के समय में ही हुआ। यजुर्वेद में संगीत कई लोगों की रोजी-रोटी का साधन मालूम होता है और सामवेद को तो भारतीय संगीत का मूल ही माना गया है। सामवेद ऐसा वेद है जिसके मंत्र या स्तोभ यज्ञों में देवताओं की स्तुति करते हुए गाये जाते थे। यह वेद गान-प्रधान है। गाये जाने वाले स्तोभों का विशेष नाम है 'सामन'। इसी नाम से इस संहिता का नाम सामवेद पड़ा। सामवेद में उच्चारण की दृष्टि से 3 प्रकार के स्वर और संगीत की दृष्टि से 7 प्रकार के स्वरों का उल्लेख है। सामनों को गाने वाले ऋत्विक या सामग कहलाते थे। 'नारदीय शिक्षा' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि साम-गान करने वाले हाथों की

उंगलियों से और हाथों को दायें-बायें ले जाकर विभिन्न स्वरों का संकेत किया करते थे। भारतीय संगीत की शुरुआत इसी वैदिक युग से मानी जाती है।

उत्तर वैदिक काल में महाभारत और रामायण जैसे महाग्रंथों की रचना हुई। रामायण में संगीत संबंधी कई उपमाएं दी गयी हैं जैसे भंवरों की गूंज की तुलना तार वाले वाद्यों के संगीत से और बादलों की गरज की तुलना मृदंग की ध्वनि से की गयी है। कहा जाता है कि लंका के राजा रावण बहुत ही अच्छे वीणा वादक भी थे। कई वाद्य यंत्रों के नाम रामायण में आते हैं जैसे भेरी, दुंदुभि, मृदंग, वीणा, घट आदि।

महाभारत की रचना जिस समय हुई तब तक संगीत के क्षेत्र में बहुत प्रगति हो चुकी थी। श्री कृष्ण के मधुर बंसी वादन और उसके जादुई प्रभाव की कई कहानियां लोकप्रिय हैं। कहते हैं कि कृष्ण जब अपने मित्रों के साथ गायें चराने के लिए जाते थे तब बंसी अपने साथ ले जाते थे। जब तक गायें घास चरती थीं कृष्ण बंसी बजाया करते थे। उनकी बंसी सुनकर गायें घास चरना छोड़ उनके इर्द-गिर्द इकट्ठी हो जाती थीं। और तो और पनघट पर पानी भरती पनिहारिनें, गांव में काम-काज करते लोग जब बंसी की मधुर धुन सुनते थे तो वे सब कुछ भूलकर कृष्ण को घेर लेते थे और घंटों उनकी बंसी सुना करते थे। एक अन्य प्रसंग में कौरवों से जुए में हारने के बाद पांडवों को 14 वर्ष के वनवास के बाद एक वर्ष का अज्ञातवास भी काटना था। शर्त यह रखी गयी थी कि उस एक वर्ष के अज्ञातवास में यदि पांडवों में से कोई भी पहचान में आ गया तो उन्हें फिर से 14 वर्ष का वनवास काटना पड़ेगा। अज्ञातवास के दौरान पांचों पांडव एक राजा के यहां अलग-अलग वेश धारण कर नौकरी करने लगे। तब अर्जुन ने राजा की बेटी उत्तरा को संगीत और नृत्य सिखाने के लिए बृहन्नला नाम की गायिका का वेश धरा था।



बंसी बजाते हुए कृष्ण

पौराणिक काल के तैत्तिरीय उपनिषद्, ऐतरेव उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण जैसे कई ग्रंथों में संगीत का उल्लेख किया गया है। इसके अलावा याज्ञवल्क्य-रत्न प्रदीपिका, प्रातिभाष्य-

प्रदीप और नारदीय शिक्षा प्रभृति जैसे ग्रंथों से भी हमें उस समय के संगीत का परिचय मिलता है। नाट्य और संगीत को मुख्य विषय मानकर चौथी शताब्दी में भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के छह अध्यायों में संगीत पर ही चर्चा की। इनमें विभिन्न वाद्यों का वर्णन, उनकी उत्पत्ति, उन्हें बजाने के तरीकों, स्वर, छंद, लय और विभिन्न तालों के बारे में विस्तार से लिखा गया है। यही नहीं भरत ने गायकों और वादकों के गुणों और दोषों पर भी खुलकर अपने ग्रंथ में लिखा। उन्होंने उस समय प्रचलित छह राग बताए। ये राग थे राग भैरव, राग हिंडोल, राग कैशिक, राग दीपक, राग श्रीराग और राग मेघ।

प्राचीन काल का एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ वृहद्देशी है, जिसे मतंग मुनि ने पांचवीं शताब्दी के आसपास रचा। मतंग के समय तक समाज में लोग रागों के बारे में जानने लगे

कुछ प्राचीन संगीत ग्रंथ और उनके रचयिता

1.	संगीत रत्नाकर	शारंगदेव (13 वीं शताब्दी)
2.	संगीत सार	विद्यारण्य (14 वीं शताब्दी)
3.	राग तरंगिणी	लोचन कवि (15 वीं शताब्दी)
4.	सद्रागचंद्रोदय	पुंडरीक विठ्ठल (16 वीं शताब्दी)
5.	स्वरमेल कलानिधि	रामामात्य (16 वीं शताब्दी)
6.	हृदय प्रकाश	हृदयनारायण देव (17 वीं शताब्दी)
7.	हृदय कौतुकम्	हृदयनारायण देव (17 वीं शताब्दी)
8.	चतुर्दंडिप्रकाशिका	व्यंकटमखी (17 वीं शताब्दी)
9.	संगीत पारिजात	अहोबल (17 वीं शताब्दी)
10.	संगीत दर्पण	दामोदर मिश्र (17 वीं शताब्दी)
11.	अनूप विलास	भावभट्ट (17 वीं शताब्दी)
12.	अनूप संगीत रत्नाकर	भावभट्ट (17 वीं शताब्दी)
13.	अष्टोत्तरशतताल लक्षणम्	सोमनाथ (17 वीं शताब्दी)
14.	राग तत्व विबोधः	श्रीनिवास पंडित (18 वीं शताब्दी)
15.	संगीत सारामृतं	तुलजेंद्र भोंसले (18 वीं शताब्दी)
16.	रागलक्षणम्	तुलजेंद्र भोंसले (18 वीं शताब्दी)

थे। लोग जिन रागों को गाया बजाया करते थे उन्हें मतंग ने देशी राग कहा और देशी रागों के नियमों को समझाने के लिए ही वृहद्देशी ग्रंथ की रचना की। मतंग ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अच्छी तरह से सोच-विचार कर पाया कि चार या पांच स्वरों से कम में राग बन ही नहीं सकता। मतंग का वृहद्देशी, नारद की नारदीय शिक्षा और संगीत मकरंद संगीत के ज्ञान का खजाना है। पाणिनी ने भी अष्टाध्यायी में अनेक वाद्यों जैसे मृदंग, झर्झर, हुड़क तथा गायकों और नर्तकों संबंधी कई बातों का उल्लेख किया है।

सातवीं और आठवीं शताब्दियों में नारद ने नारदीय शिक्षा और संगीत मकरंद की रचना की। संगीत मकरंद में उन्होंने राग में लगने वाले स्वरों के अनुसार उन्हें अलग-अलग वर्गों में बांटा और रागों को गाने बजाने के समय पर भी गंभीरता से सोचा।

इस युग के बाद जो समय आया उसमें संगीत कहां तक पहुंचा था और उसका क्या महत्व था, इसके जीते-जागते उदाहरण के तौर पर अजंता और एलोरा की गुफाओं के भित्ति चित्र और मूर्तियां, कोणार्क का मंदिर जैसे अनेक स्थल आज भी मौजूद हैं। अजंता की गुफा नं. 1 में महाजनक जातक कथा का चित्रण है। इसके एक चित्र में एक स्त्री नृत्य की मुद्रा में है तथा दो अन्य स्त्रियां बांसुरी बजाती दिखती हैं। इसी गुफा में महाजनक जातक की दूसरी कथा में कई वाद्ययंत्रों के चित्र हैं। इसी तरह कोणार्क के मंदिर में मंजीरे, मृदंग, बांसुरी और वीणा बजाती और नृत्य की मुद्राओं में अनेक मूर्तियां हैं। ओडिसा के प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य ओडिसी में नृत्य-संगीत में व्यस्त इन्हीं मूर्तियों की कई भंगिमाएं जस की तस अपनाई गयी हैं।



अमरावती

दक्षिण भारत में तिरुनेलवेल्ली के श्री नेल्लेईअप्पर मंदिर और मदुरै के श्री मीनाक्षीअम्मन् मंदिर में कर्नाटक संगीत की

35 प्रकार की तालों को बहुत ही कलात्मक तरीके से पत्थरों पर खुदाई कर चक्रों में अंकित किया गया है। 12वीं शताब्दी में वेल्लूर में बने केशव मंदिर और 16वीं शताब्दी में चिदम्बरम् में बने नटे श्वर शिव मंदिर की मूर्तियां भी उस समय संगीत के चलन की कहानी कहती हैं।

11वीं शताब्दी में मुसलमान अपने साथ फारस का संगीत लाए। उनके आने के बाद भारतीय संगीत में काफी बदलाव आया। यह बदलाव उनकी संगीत पद्धति और हमारी संगीत पद्धति के मेल के कारण हुआ। संगीत को बढ़ावा देने में उस जमाने के राजा-महाराजाओं का बहुत बड़ा हाथ था। एक तो अधिकतर राजा संगीत कला के प्रेमी थे और दूसरे संगीतज्ञों को आश्रय देकर उनकी कला को निखारने और संवारने में वे मदद भी किया करते थे। बादशाह अकबर के दरबार में 36 संगीतज्ञ थे जिनमें तानसेन, बैजूबावरा, रामदास, तानरंग खां आदि के नाम आज भी लोगों की जबान पर हैं। जहांगीर के दरबार में खुर्रमदाद, मक्खू, छत्तर खां, विलास खां नाम के संगीतज्ञ थे। कहते हैं कि शाहजहां तो स्वयं भी बहुत अच्छा गाते थे। वह गायकों का इतना आदर करते थे कि उन्हें चांदी के सिक्कों से तुलवा कर ईनाम दिया करते थे। मुगलवंश के एक और बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले का नाम तो कई पुराने गीतों में आज भी मिलता है।

ग्वालियर के राजा मानसिंह भी संगीत प्रेमी थे। उनके समय में संगीत की खास शैली का जन्म हुआ जिसे ध्रुपद कहा गया। 12वीं शताब्दी में कवि और संगीतज्ञ जयदेव ने गीत गोविंद नामक एक ग्रंथ संस्कृत में लिखा जिसमें राधा-कृष्ण की कई लीलाओं का सुंदर और सजीव वर्णन किया गया है। गीत गोविंद में 24 गीत हैं और हर गीत में आठ चरण हैं, इसीलिए इसे अष्टपदी भी कहा जाता है। इस महत्वपूर्ण रचना के लिखे जाने के कोई 100 वर्ष बाद पंडित शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर की रचना की। शारंगदेव ने अपने समय के प्रचलित संगीत और बीते हुए समय के यानी भरत और मतंग के समय के संगीत का गहन अध्ययन किया और संगीत में समय के साथ हुए बदलाव का अपने ग्रंथ में वर्णन किया। इस अर्थ में आज के भारतीय संगीत में शारंगदेव के संगीत रत्नाकर का विशेष महत्व है। शारंगदेव के पूर्वज कश्मीर के रहने वाले थे। उनके दादा भास्कर एक विद्वान ब्राह्मण थे। मुसलमान राजाओं के शासन काल में उन्होंने कश्मीर से भागकर दक्षिण भारत में शरण ली। भास्कर के पुत्र सोधल को महाराष्ट्र के देवगिरी के यादव राजाओं ने अपने दरबार में रखा। शारंगदेव सोधल के पुत्र थे। न सिर्फ कविता और संगीत बल्कि शारंगदेव चिकित्सा विज्ञान भी जानते थे। शारंग देव ने संगीत रत्नाकर में सात अध्याय रचे, इसलिए इस ग्रंथ को सप्तध्यायी भी कहा जाता है।

यह वह समय था जब भक्ति पूरे जोर पर थी। पूरे भारत में ईश्वर की आराधना से लोगों में एकता और प्रेम पैदा करने के लिए गीत रचे जा रहे थे। दक्षिण भारत के रामानुजम, पुरंदरदास, और माधव जैसे संत कवियों और उत्तर भारत में संत कबीर, सूरदास, तुलसीदास, तुकाराम, मीराबाई, कृष्ण चैतन्य ने विभिन्न प्रकार का भक्ति काव्य रचा जो उस समय के संगीत में प्रमुखता से दिखलाई पड़ता है। इस दौरान इन संतों के अलावा स्वामी हरिदास, विठ्ठल, कृष्णदास, त्यागराज, मुथ्थुस्वामी दीक्षितर और श्यामा शास्त्री जैसे अनेक संत कवि-संगीतज्ञों ने उत्तर और दक्षिण भारत के संगीत को अनगिनत रचनाएं दीं।

2

संगीत का आधार

संगीत केवल उन ध्वनियों से ही पैदा होता है जो किसी निश्चित ताल और लय में होती हैं। इन ध्वनियों के अलावा बाकी ध्वनियां बातचीत, शोरगुल या केवल ऐसी ध्वनियां होती हैं जो संगीत के काम में नही लाई जा सकतीं।

ध्वनि को नाद भी कहते हैं। मोटे तौर पर दो प्रकार की ध्वनियां होती हैः आहत और अनाहत। अनाहत नाद हमें कानों से सुनाई नहीं देता। विज्ञान की भाषा में इसे अल्ट्रासोनिक कहा जाता है। हमारा वातावरण अनाहत ध्वनियों से भरा पड़ा है, लेकिन इन्हें हमारे कान सुन नहीं पाते। ये नाद संगीत के लिए उपयोगी नहीं होता।

दूसरे प्रकार का नाद आहत नाद कहलाता है जिससे संगीत का जन्म होता है। यह नाद दो वस्तुओं को आपस में रगड़ने, घर्षण या एक पर दूसरी वस्तु के प्रहार से पैदा होता है।

आहत नाद हम तक कंपन के जरिये पहुंचता है। ध्वनि भी अपनी तरंगों से हवा में हलचल पैदा करती हैं। ध्वनि तरंगों की चौड़ाई और लंबाई पर ध्वनि का ऊंचा या नीचा होना तय होता है। यदि कंपनों की संख्या अधिक हो तो ध्वनि तरंगों की लंबाई कम होगी और ध्वनि ऊंची सुनाई देगी। इसके विपरीत यदि कंपन कम है तो ध्वनि तरंग की लंबाई ज्यादा होगी और नीची ध्वनि पैदा होगी।

संगीत के सात स्वरों में 'रे' का नाद 'स' के नाद से ऊंचा है। इसी तरह 'ग' का नाद 'रे' से ऊंचा है। यह भी कह सकते हैं कि 'ग' की ध्वनि में तरंगों की लंबाई 'रे' की ध्वनि तरंगों से कम है और कंपनों की संख्या ''रे' की तुलना में ज्यादा है। इसके अलावा ध्वनि से संबंधित और भी कई सिद्धांत है जो ध्वनि का भारी य़ा पतला होना, देर या कम देर तक सुनाई देना निश्चित करते हैं। इन्हीं गुणों को ध्यान में रखते हुए मुख्यतः सात स्वर संगीत के लिए निश्चित किये गये। कितने आश्चर्य की बात है कि वैदिक काल में

जब आज की तरह उन्नत विज्ञान नहीं था तब भी भौतिकी के इन सिद्धांतों को ऋषियों-मुनियों ने समझकर स्वरों के प्रकार, उनका उपयोग, आदि कैसे तय किये होंगे और कैसे बनाये होंगे वीणा और मृदंग जैसे वाद्य !

संगीत के लिए 7 स्वर तय किये गये। यह हैं षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम्, धैवत और निषाद। इन्हीं नामों के पहले अक्षर लेकर इन्हें सा, रे, ग, म, प, ध और नि कहा गया। ये सब शुद्ध स्वर हैं। इनमें 'स' और 'प' अचल माने गये हैं क्योंकि ये अपनी जगह से जरा भी नहीं हटते। बाकी पांच स्वरों को विकृत या विकारी स्वर भी कहते हैं क्योंकि इनमें अपने स्थान से हटने की गुंजाइश होती है। कोई स्वर यदि अपने नियत स्थान से थोड़ा नीचे खिसकता है तो वह कोमल स्वर कहलाता है। अगर वह ऊपर की ओर खिसकता है तो उसे तीव्र स्वर कहते हैं। फिर अपने स्थान पर लौट आने पर ये स्वर शुद्ध कहे जाते हैं। रे, ग, ध, नि जब नीचे खिसकते हैं तब वो कोमल बन जाते हैं और 'म' ऊपर पहुंचकर तीव्र बन जाता है। इस तरह सात शुद्ध स्वर, चार कोमल और एक तीव्र मिलकर बारह स्वर तैयार होते हैं जिन्हें सरगम कहा जाता है।

सा रे ग म प ध नि सा

यदि हम इस पट्टी को ध्वनि का सामान्य स्तर मान लें तो इस पट्टी के सभी स्वर शुद्ध हैं।

सा			म	प			सा
	रे	ग			ध	नि	

उपरोक्त पट्टी में रे, ग, ध, नि कोमल हैं यानी अपने स्थान से उतरे हुए हैं।

सा	रे	ग	म				
				प	ध	नि	सा

और इस तीसरी पट्टी में म तीव्र है यानी अपने स्थान से ऊपर चढ़ा हुआ है।

सप्तक का अर्थ है सात। सात शुद्ध स्वर हैं इसीलिए यह नाम पड़ा। लेकिन ध्वनि की ऊंचाई और निचाई के आधार पर संगीत में 3 तरह के सप्तक माने गये हैं। यदि साधारण ध्वनि है तो उसे मध्य सप्तक कहेंगे। यदि ध्वनि मध्य सप्तक से ऊपर है तो उसे तार सप्तक

कहेंगे। तार सप्तक में ध्वनि ऊंची होती है और इसमें स्वरों को बोलने में तालू पर जोर पड़ता है जबकि मध्य सप्तक के स्वरों को बोलने में गले पर जोर पड़ता है। उसी जगह यदि ध्वनि मध्य सप्तक से नीची है तो उसे मंद्र सप्तक कहते हैं और इसमें स्वरों को बोलने में हृदय पर जोर पड़ता है।

संगीत के आधुनिक काल में यानी उन्नीसवीं शताब्दी में दो विद्वानों ने संगीत के स्वरों की लिपि तैयार की ताकि संगीत को लिखा जा सके। पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और पंडित विष्णुनारायण भातखंडे ने भारतीय संगीत परंपरा को लिखने की पद्धति विकसित की। उस समय तक जितने भी प्राचीन ग्रंथ मिले थे वो अधिकतर संस्कृत में थे। इन्हें समझना साधारण लोगों के लिए आसान नहीं था। दूसरी बात यह थी कि उस समय तक लोग संगीत को सुन-सुनकर उसे याद करके अगली पीढ़ी को सौंप देते थे। ऐसा करने की वजह से संगीत की कई बारीकियां या तो नष्ट हो गई थीं, बदल गई थीं या फिर भुला देने के कारण दुबारा गढ़ ली गई थीं। संगीत को कागज पर कैसे लिखा जाए ताकि आने वाली पीढ़ियां भी उसे जस का तस अपना सकें, यही कठिन प्रश्न इन दोनों विद्वानों के सामने था। वैसे तो प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनी के पहले ही स्वरों की लिपि मौजूद थी, लेकिन उसमें केवल स्वरों के नाम उनके पहले अक्षरों के साथ सरगम के रूप में दिए जाते थे। तीव्र और कोमल स्वर ताल, मात्रा, आदि स्मृति के भरोसे ही थे। विद्वान् संगीतज्ञ पलुस्करजी और भातखंडेजी ने संगीत को समझाने के लिए कुछ चिह्नों का इस्तेमाल किया, लेकिन इन दोनों के तरीकों में चिह्न अलग-अलग थे।

भातखंडेजी ने सप्तकों के इन स्वरों को लिखने के लिए बिंदु का प्रयोग किया। स्वर के ऊपर बिंदु तार सप्तक, स्वर के नीचे बिंदु मंद्र सप्तक और बिंदु रहित स्वर मध्य सप्तक दर्शाते हैं। इन सप्तकों में कोमल और तीव्र स्वर भी गाये जाते हैं। इन स्वरों की ध्वनि का केवल स्तर बदलता है। इनकी कोमलता और तीव्रता बनी रहती है।

सां रें गं मं - तार सप्तक

सा रे ग म - मध्य सप्तक

ऺसा ऺरे ऺग ऺम - मंद्र सप्तक

लय

गति का ही दूसरा नाम लय है। हम हर सुबह सूरज को पूरव से उगता हुआ देखते हैं और पाते है कि हर शाम वह पश्चिम में ढल जाता है। पृथ्वी और अन्य ग्रह सूरज के चारों ओर घूमते रहते हैं। एक नन्हा-सा पौधा धीरे-धीरे पेड़ बन जाता है। हमारा दिल लगातार धड़कता रहता है और रक्त पूरे शरीर में हर समय दौड़ता रहता है। हर जगह गति है। फर्क केवल यह है कि कहीं गति धीमी है तो कहीं तेज। कहीं गति को हम देख सकते हैं और महसूस कर सकते हैं जैसे अपनी चाल में, दिल की धड़कन में और कहीं नहीं देख पाते जैसे पृथ्वी का सूरज के चारों ओर घूमना। जब दौड़ते हैं तो हमारा दिल बहुत जोर से धड़कता है यानी उसकी गति तेज हो जाती है। जब हम सोते हैं तो दिल की धड़कन धीमी पड़ जाती है यानी दिल भी थोड़ा आराम-आराम से धड़कता है। पूरी सृष्टि में लय ही लय है। संगीत में स्वर भी हमेशा लय में ही होते हैं। लय में न होने पर केवल आवाजें पैदा होती हैं। संगीत में तीन तरह की लय होती हैं। सामान्य लय को मध्य लय, सामान्य से तेज लय को द्रुत लय और सामान्य से कम लय को विलंबित लय कहा जाता है।

लय का हमारे जीवन में बहुत महत्व है और इसके धीमे या तेज होने पर अलग-अलग भाव भी पैदा होते हैं। दुख भरे गीत अधिकतर धीमी लय में होते हैं जो मन में दुख का ही भाव पैदा करते हैं। यदि दुख भरे गीतों को द्रुत लय में गाया जाये तो बड़ा अटपटा सा लगेगा। मन के भावों का भी लय परं असर पड़ता है। जब हम खुश होते हैं तो हमारी बात करने की लय तेज हो जाती है और मन जब उदास होता है तो बोलने की गति धीमी हो जाती है। इसी तरह वीरता के भाव द्रुत लय में ही व्यक्त हो सकते हैं। सेना में गीत और धुनें अधिकतर द्रुत लय में ही होती हैं जिससे वे मन में जोश और वीरता का भाव पैदा कर सकें। बहुत ही लोकप्रिय गीत है "कदम कदम बढ़ाये जा खुशी के गीत गाये जा", इस गीत को मन में धीमी गति में गुनगुना कर देखें तो क्या वह भाव आ पाएगा जो गीतकार बताना चाह रहा है। लोरियां हमेशा धीमी लय में ही गाई जाती हैं। धीमी लय के कारण मन में शांत भाव पैदा होते हैं और नींद आ जाती हैं। एक सी लय मन को थकाती है। सुबह से रात तक घड़ी की टिक-टिक सुनी जाये तो शायद इंसान पागल ही हो जाये। सामान्य जीवन में जब मन के भाव हमेशा एक से नहीं रहते तो फिर एक जैसी लय कैसे हो सकती है। लय भावों के हिसाब से बदलती है और इसके विपरीत भाव भी लय के अनुसार बदलते हैं।

ताल

समय हमेशा चलता ही रहता है, रुकता नहीं। इसकी गति को हम टुकड़ों-टुकड़ों में बांट सकते हैं। जैसे वर्ष, महीने, हफ्ते, दिन, घंटे, पल। कुछ गतियां तय टुकड़ों में बांटी गई हैं जैसे पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना चौबीस घंटे में होता है, इससे कम या ज्यादा में नहीं। इसका अर्थ हुआ कि पृथ्वी का अपनी धुरी पर एक चक्कर चौबीस बराबर-बराबर टुकड़ों में बांटा गया है। एक घंटे को साठ बराबर टुकड़ों में बांटा गया है जो मिनट कहलाते हैं। एक घंटे में 60 मिनट ही होंगे, इकसठवां मिनट नहीं हो सकता। ये साठ मिनट एक घंटे की 60 मात्राएं हुईं और चौबीस घंटे एक दिन की चौबीस मात्राएं हुईं। यह क्रम चलता रहता है। ठीक इसी तरह संगीत में समय को बराबर मात्राओं में बांटने पर ताल बनती है। ताल बार-बार दोहराई जाती है और हर बार अपने अंतिम टुकड़े को पूरा कर समय के जिस टुकड़े से शुरू हुई थी उसी पर आकर मिलती है। हर टुकड़े को मात्रा कहा जाता है। संगीत में समय को मात्रा से मापा जाता है। तीन ताल में समय या लय के 16 टुकड़े या मात्राएं होती हैं। हर टुकड़े को एक नाम दिया जाता है जिसे बोल कहते हैं। इन्हीं बोलों को जब वाद्य पर बजाया जाता है तो उन्हें ठेका कहते हैं। ताल की मात्राओं को विभिन्न भागों में बांटा जाता है जिससे गाने या बजाने वाले को यह मालूम रहे कि वह कौन सी मात्रा पर है और कितनी मात्राओं के बाद वह सम पर पहुंचेगा। तालों में बोलों के छंद के हिसाब से उनके विभाग किए गये। हिंदुस्तानी संगीत में एक बहुत ही प्रचलित ताल तीन ताल का उदाहरण लेकर इसे समझें।

धा धिं धिं धा । धा धिं धिं धा । धा तिं तिं ता । ता धिं धिं धा ।

16 वीं मात्रा के बाद चक्र पूरा हो जाता है, लेकिन लय तभी बनती है जब 16वीं मात्रा के बाद फिर से पहली मात्रा से नयी शुरुआत हो। जहां से चक्र दोबारा शुरू होता है उसे सम कहा जाता है। इस तरह यह चक्र चलता रहता है। ताल में खाली और भरी दो और शब्द महत्वपूर्ण हैं। ताल के उस भाग को भरी कहते हैं जिस पर बोल के हिसाब से अधिक बल देना है। भरी पर ताली दी जाती है। ताल में खाली उस भाग को कहते हैं जिस पर ताली नहीं दी जाती और जिससे गायक या वादक को सम के आने का आभास हो जाता है। ताल के अन्य विभागों को संख्या से बताया जाता है जिसमें खाली के लिए

शून्य लिखा जाता है। ताल लय को गठती है और उसे अपने नियंत्रण में रखती है।

हिंदुस्तानी संगीत में कई तालें प्रचलित हैं, उनमें से कुछ यहां नीचे दी जा रही हैं:

ताल का नाम	मात्रा	बोल
दादरा	6	धा-धी-ना। धा-ती-ना।
रूपक	7	ती-ती-ना। धी-ना। धी-ना।
तीन ताल	16	धा-धिं-धिं-धा। धा-धिं-धिं-धा। धा-तिं-तिं-ता। ता-धिं-धिं-धा
झपताल	10	धी-ना। धी-धी-ना। ती-ना। धी-धी-ना।
कहरवा	8	धा-गे-ना-ति। न-क-धि-न।
एक ताल	12	धिं-धिं-धागे-तिरकट। तू-ना-क-त्ता। धागे-तिरकट। धिं-ना
चौताल	12	धा-धा-धिं-ता। किट -धा-धिं-ता। तिट -कत। गदि-गन।

एक मात्रा के यदि दो टुकड़े कर दिए जायें तो 16 मात्रा में तीन ताल के दो चक्र पूरे होंगे। तब लय दुगुनी हो जायेगी। इसे दुगुन कहते हैं। इसी तरह एक मात्रा के तीन या चार टुकड़े किए जायें तो तिगुनी या चौगुनी द्रुत लय बनेगी। दो मात्राओं को एक मात्रा मानें तो तीन ताल का पूरा चक्र 32 मात्राओं में पूरा होगा। तब लय विलंबित होगी। संगीत में मध्यम लय विलंबित की दुगुनी और द्रुत मध्यम लय की दुगुनी मानी जाती है। ताल से लय का आकार-प्रकार तय होता है।

3

संगीतः क्यों और कैसे

राग कैसे बने ?

नाद से स्वर और स्वरों से सप्तक तैयार होते हैं। जब 12 स्वर खोज लिए गये तब उन्हें इस्तेमाल करने के तरीके ढूंढ़े गये। 12 स्वरों के मेल से ही कई राग बनाए गये। उनमें से कई रागों में समानता भी थी। 15वीं शताब्दी में कवि लोचन ने राग-तरंगिणी नाम के ग्रंथ में 16 हजार रागों का उल्लेख किया है, लेकिन इतने सारे रागों में से चलन में केवल 16 राग ही थे। राग उस स्वर समूह को कहा गया जिसमें स्वरों के उतार-चढ़ाव और उनके मेल से बनने वाली रचना सुनने वाले को मुग्ध कर सके। यह जरूरी नहीं कि किसी भी राग में सातों स्वर लगें। यह तो बहुत पहले ही वैदिक काल में तय कर दिया गया था कि किसी भी राग में कम से कम पांच स्वरों का होना जरूरी है। ऐसे और भी नियम बनाये गये थे जैसे षड़ज यानी 'स' का हर राग में होना बहुत ही जरूरी है क्योंकि वही तो हर राग का आधार है। कुछ स्वर जो राग में बार-बार आते हैं उन्हें वादी कहते हैं और ऐसे स्वर जो वादी स्वर से कम लेकिन अन्य स्वरों से अधिक बार आएं उन्हें संवादी कहते हैं।

लोचन कवि ने 16 हजार रागों में से कई रागों में जब समानता पाई तो उन्हें अलग-अलग वर्गों में रखा। उन्होंने 12 वर्ग तैयार किये जिनमें से हर वर्ग में कुछ-कुछ समान स्वर वाले राग शामिल थे। इन वर्गों को ठाठ या थाट कहा गया। ठाठ में 7 स्वर अर्थात् 'स', 'रे', 'ग', 'म', 'प', 'ध', 'नि' होने आवश्यक हैं। यह बात और है कि किसी ठाठ में कोमल और किसी में तीव्र स्वर होंगे या मिले-जुले स्वर होंगे। इन ठाठों में वही राग रखे गये जिनके स्वर मिलते-जुलते थे। इसके बाद सत्रहवीं शताब्दी में दक्षिण के विद्वान पंडित श्रीनिवास ने सोचा कि रागों को उनके स्वरों की संख्या के हिसाब से ठाठ में रखा जाए यानी जिन रागों में 5 स्वर हों वे एक ठाठ में, छह स्वर वाले दूसरे में और 7 स्वर वाले तीसरे ठाठ में। कई विद्वानों में इस बात को लेकर चर्चा होती रही कि रागों का

वर्गीकरण ठाठों में कैसे किया जाये। दक्षिण के ही एक अन्य विद्वान व्यंकटमखी ने गणित का सहारा लेकर कुल 72 ठाठ बताए। उन्होंने दक्षिण के रागों के लिए इनमें से 19 ठाठ चुने। इधर उत्तर भारत में विद्वानों ने सभी रागों के लिए 32 ठाठ चुने। अंततः भातखंडेजी ने यह तय किया कि उत्तर भारतीय संगीत के सभी राग 10 ठाठों में समा सकते हैं। ये ठाठ कौन-कौन से है इन्हें याद रखने के लिए 'चतुर पंडित' ने एक कविता बनाई। चतुर पंडित कोई और नहीं स्वयं पंडित भातखंडे ही थे। इन्होंने कई रचनाएं मंजरीकार और विष्णु शर्मा नाम से भी रची हैं।

यमन, बिलावल और खमाजी, भैरव पूरवि मारव काफी।
आसा भैरवि तोड़ि बखाले, दशमित ठाठ चतुर गुनि माने।।

आज भी संगीतज्ञ इन्हीं दस ठाठों की मदद से नये-नये राग बना रहे हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि हर ठाठ का नाम उससे पैदा होने वाले किसी विशेष राग के नाम पर ही दिया जाता है। इस राग को आश्रय राग कहते हैं क्योंकि बाकी रागों में इस राग का थोड़ा-बहुत अंश तो दिखाई ही देता है।

'राग' शब्द संस्कृत की धातु रंज् से बना है। रंज् का अर्थ है रंगना। जिस तरह एक चित्रकार तस्वीर में रंग भरकर उसे सुंदर बनाता है, उसी तरह संगीतज्ञ मन और शरीर को संगीत के सुरों से रंगता ही तो है। रंग में रंग जाना मुहावरे का अर्थ ही है कि सब कुछ भुला कर मगन हो जाना या लीन हो जाना। संगीत का भी यही असर होता है। जो रचना मनुष्य के मन को आनंद के रंग से रंग दे वही राग कहलाती है। हर राग का अपना एक रूप, एक व्यक्तित्व होता है जो उसमें लगने वाले स्वरों और लय पर निर्भर करता है।

किसी राग की जाति इस बात से निर्धारित होती है कि उसमें कितने स्वर आरोह में और कितने स्वर अवरोह में हैं। आरोह का अर्थ है चढ़ना जैसे ध्वजारोहण यानी झंडे को ऊपर चढ़ाना, पर्वतारोहण यानी पर्वत पर चढ़ना और अवरोह का उतरना। संगीत में स्वरों का क्रम उनकी ऊंचाई-निचाई के आधार पर तय किया गया है। 'स' से ऊंची ध्वनि 'रे' की, 'रे' से ऊंची ध्वनि 'ग' की और 'नि' की ध्वनि सबसे अधिक ऊंची होती है। जिस तरह हम एक के बाद एक सीढ़ियां चढ़ते हुए किसी मकान की ऊपरी मंजिल तक पहुंचते हैं उसी तरह गायक स-रे-ग-म-प-ध-नि-सा का सफर तय करते हैं। इसी को आरोह कहते हैं। इसके विपरीत ऊपर से नीचे आने को अवरोह कहते हैं। तब स्वरों का क्रम ऊंची

उत्तर भारतीय संगीत के दस ठाठ और उनसे पैदा हुए कुछ राग

1.	कल्याण या यमन ठाठ	:	यमन, भूपाली, हिंडोल, हमीर, केदार, छायानट, गौड़सारंग, आदि।
2.	बिलावल ठाठ	:	बिलावल, बिहाग, देशकार, पहाड़ी, दुर्गा, शंकरा, आदि।
3.	खमाज ठाठ	:	खमाज, झिंझोटी, तिलंग, रागेश्वरी, सोरठ, देश, जयजयवंती, तिलक कामोद, आदि।
4.	भैरव ठाठ	:	भैरव, अहीर भैरव, गुणकली, जोगिया, मेघरंजनी, आदि।
5.	पूर्वी ठाठ	:	पूर्वी, पूरियाधनाश्री, वसंत, आदि।
6.	काफी ठाठ	:	काफी, भीमपलासी, पीलू, बागेश्वरी, बहार, वृंदावनी सारंग, शुद्ध मल्हार, मेघ, मियां की मल्हार, आदि।
7.	आसावरी ठाठ	:	आसावरी, जौनपुरी, दरबारी कान्हड़ा, अड़ाना, आदि।
8.	भैरवी ठाठ	:	भैरवी, मालकौंस, बिलासखानी तोड़ी, आदि।
9.	तोड़ी ठाठ	:	14 प्रकार की तोड़ी, मुलतानी, आदि।
10.	मारवा ठाठ	:	मारवा, भटियार, विभास, ललित, सोहनी, आदि।

ध्वनि से नीची ध्वनि की ओर होता है जैसे सा-नि-ध-प-म-ग-रे-स।

आरोह-अवरोह में सातों स्वर होने पर राग संपूर्ण जाति का कहलाता है। पांच स्वर लगने पर राग 'औडव' और छह स्वर लगने पर 'षाडव' राग कहलाता है। यदि आरोह में सात और अवरोह में पांच स्वर हैं तो राग संपूर्ण औडव कहलाएगा। इस तरह कुल 9 मेल तैयार हो सकते हैं जिन्हें राग की उपजातियां भी कहते हैं। साधारण गणित के हिसाब से देखें तो एक ठाठ के सात स्वरों से 484 राग तैयार हो सकते हैं। लेकिन कुल मिलाकर कोई डेढ़ सौ राग ही प्रचलित हैं।

यह मामला बहुत पेचीदा लगता है लेकिन यह केवल साधारण गणित की बात है। आरोह में 7 और अवरोह में भी 7 स्वर होने पर संपूर्ण-संपूर्ण जाति बनती है जिससे केवल एक ही राग बन सकता है। वहीं आरोह में 7 और अवरोह में 6 स्वर होने पर संपूर्ण षाडव जाति बनती है जिससे छह राग बन सकते हैं। ऐसा करने के लिए आरोह में सात स्वर और अवरोह में हर बार एक-एक स्वर बदलकर छोड़ते जाना चाहिए। सबसे अधिक 225 राग औडव-औडव जाति में बनते हैं जहां आरोह में बारी-बारी से दो स्वर छोड़ने पर 15 राग और अवरोह में भी हर बार दो स्वर छोड़ने पर 15 राग

बनते हैं। मतलब यह कि 15 के 15 गुना राग! कुल मिलाकर ये 225 राग बनते हैं। इसी तरह विभिन्न जातियों में बनने वाले रागों की कुल संख्या 484 बनती है। लेकिन बात यहां खत्म नहीं होती। ये सभी राग तो केवल एक ठाठ के स्वरों से ही बने हैं। उत्तर भारतीय संगीत परंपरा में 10 ठाठ हैं इसलिए वहां 4840 और दक्षिण भारतीय संगीत परंपरा में 72 ठाठों से 34848 राग बन सकते हैं।

उत्तर भारतीय संगीत में रागों के गाने-बजाने का समय भी दिन और रात के चार-चार पहरों में बांटा गया है। इसके लिए सप्तक के सात स्वरों और अंतिम 'सा' को मिलाकर उन्हें दो भागों में बांटा गया अर्थात् स-रे-ग-म और प-ध-नि-सा। पहला हिस्सा पूर्वांग और दूसरा उत्तरांग कहलाया। पूर्वांग राग दिन के बाद के हिस्से में यानी दोपहर 12 से रात 12 बजे तक गाये-बजाये जाने वाले राग होंगे तो उत्तरांग दिन के शुरू के हिस्से यानी रात 12 बजे से दिन के 12 बजे तक के राग होंगे। अब विद्वानों ने राग के वादी यानी बार-बार दोहराये जाने वाले स्वर को लिया जैसे राग यमन में 'ग' वादी स्वर है। 'ग' सप्तक के पहले हिस्से यानी पूर्वांग में आता है। इसलिए यमन को गाने-बजाने का समय रात्रि का प्रथम पहर तय किया गया। ऐसे ही आसावरी राग में वादी स्वर 'ध' है जो सप्तक के दूसरे हिस्से में आता है। इसीलिए आसावरी उत्तरांगवादी राग कहलाता है और इसके गायन का समय प्रातःकाल रखा गया है। दिन शुरू होने और रात खत्म होने और दिन खत्म होने और रात शुरू होने के समय यानी दिन और रात के मिलने के समय गाये बजाये जाने वाले राग संधि प्रकाश राग कहलाये। इन रागों में भैरव, भैरवी, पूर्वी, मारवा, आदि आते हैं। इन रागों में 'रे' और 'ध' कोमल होते हैं। संधि का समय अपने में कोमलता लिए होता है। यह हम सुबह सूर्योदय और शाम को सूर्यास्त के समय महसूस कर सकते हैं।

ऐसे राग भी हैं जिसका नाम विभिन्न स्थानों के नाम पर पड़ा जैसे मारवाड़ से राग मारु, तेलंगाना से तिलंग, जौनपुर से जौनपुरी, मुलतान से मुलतानी और सौराष्ट्र से राग सोरठ। संगीतज्ञों के नाम पर रागों के नाम रखे गये जैसे रामकली, सारंग, मियां की मल्हार, सूर मल्हार और बिलासखानी तोड़ी। पशु-पक्षियों के नामों पर भी रागों के नाम हैं जैसे हंसध्वनि, हंसकंकणी, कुरंगी, आदि। कुछ का नाम केवल कल्पना से रखा गया जैसे ललित, विभास और कंकुभ। भैरव, दुर्गा, गौरी, शंकरा, श्याम जैसे रागों के नाम देवी-देवताओं के नाम पर रखे गये हैं।

रागों के नाम और प्रयोग का समय ऋतुओं के हिसाब से भी तय किया गया है। वसंत ऋतु पर वसंत, बहार, तथा वर्षा ऋतु पर मेघ, मल्हार, आदि। दरअसल किसी भी राग को गाते या बजाते समय कल्पना में जो चित्र उमड़ता है वह भाव और आनंद से पैदा होता है। 'बहार' के स्वरों में जहां खुशी और उमंग से भरी तस्वीर मन में बनती है वहीं 'मेघ' के स्वरों से उमड़ते-घुमड़ते बादलों का खयाल आता है। ऐसा भी मानना है कि केवल स्वर ही आनंद और भाव पैदा नहीं करते। भाव पैदा होने के लिए बोल या शब्द भी होने चाहिए। शब्द अर्थ देते हैं और अर्थ से भाव पैदा होता है। किसी कविता में कवि काले बादलों की बात कर रहा हो, बता रहा हो कि सुहावने मौसम में कोई घर में अकेला किसी का इंतजार कर रहा है। उस कविता के शब्दों को यदि राग मेघ या मल्हार में बांधा जाये तो शब्द और स्वर मिलकर एक सा ही भाव पैदा करेंगे और उनमें आपसी तालमेल होगा। मल्हार की ऐसी ही एक बंदिश है:

आये बदरा कारे-कारे, हमरे कंत निपट भए बारे
ऐसे समय परदेश सिधारे।

इस पंक्ति में कवि काले बादलों की बात कर बता रहा है कि ऐसे सुहावने मौसम में कोई प्रिय परदेश चला गया है। राग मेघ या मल्हार में वर्षा का यह गीत यदि भरी गर्मी में गाया जाये तो न तो मन में काले घुमड़ते बादलों का चित्र बना पायेगा और न ही किसी से बिछुड़ने का भाव ही पैदा हो पायेगा। इसलिए यह भी जरूरी है कि राग का सही आनंद प्राप्त करने के लिए जहां स्वरों के विशेष मेल और विशेष समय की जरूरत होती है वहीं शब्द भी उतने ही महत्वपूर्ण होते हैं। उसी जगह वाद्य संगीत में यह बात खरी नहीं उतरती क्योंकि वहां शब्द हैं ही नहीं। संगीत का सही आनंद लेने वाले यह कह सकते हैं कि जहां शब्द नहीं, वहां सुर की पहचान ही मस्तिष्क में उससे जुड़े बोल गढ़ सकती है। जो भी हो दिलचस्प बात यह है कि लगभग हर संगीत सभा में चाहे वह सुबह, दोपहर, शाम या रात में हो, संगीतज्ञ अपने गाने-बजाने का समापन अधिकतर राग भैरवी से ही करते हैं जबकि राग भैरवी प्रातःकाल का राग माना गया है।

हमारे मन का भाव हमेशा एक सा नहीं रहता। सुबह सो कर उठते हैं तो मन गंभीर होता है, मन में भक्ति भाव जगते हैं। जैसे-जैसे दिन चढ़ता है, वातावरण बदलता है और हमारे मन के भावों में भी परिवर्तन होता है। शाम होते ही मन चंचल हो उठता है। रात

को भक्ति का वह भाव नहीं रह पाता जो सुबह होता है। हमारे मन के इन बदलते हुए भावों को व्यक्त करने के लिए स्वर भी विभिन्न होते हैं। ऐसा माना जाता है कि राग मालश्री और हिंडोल के स्वर जहां वीरता और आश्चर्य पैदा करते हैं वहीं तोड़ी के स्वर खुशी का माहौल बनाते हैं। आसावरी के स्वर करुणा पैदा करते हैं तो भैरव और जोगिया मन को भक्ति की ओर ले जाते हैं।

संगीत सीखने वाले विद्यार्थियों के लिए पलटों का अभ्यास बहुत जरूरी होता है क्योंकि इससे स्वरों को पहचानने में मदद मिलती है जिसके बिना संगीत में आगे बढ़ना मुश्किल है। पलटा स्वरों के बंधे हुए समूहों को कहते हैं। ये तो हुए वो अलंकार जो स्वरों को आगे-पीछे पलटने से बनते हैं। दूसरी तरह के अलंकार वे होते हैं जो इस आधार पर बनते हैं कि स्वरों को किसी विशेष तरीके से प्रस्तुत किया जाये ताकि वे सुंदर प्रतीत हों। कई प्रकार के गमक इस अलंकार की श्रेणी में रखे जा सकते हैं जैसे मीड़, मूर्छना, हिल्लोल, आदि। गमक स्वरों में विशेष प्रकार के कंपन को कहते हैं जो सुनने में अच्छा लगता है और संगीत के आकर्षण को बढ़ाता है।

कुछ संगीतज्ञ तो यहां तक कहते हैं कि हर स्वर उन्हें एक अलग व्यक्तित्व, अलग पात्र की तरह दिखता है। षड़ज का अलग रूप है, रिषभ का अलग, गांधार के मिजाज में मध्यम से काफी अंतर है। इसी तरह हर स्वर का रूप और स्वभाव अलग है। संगीतज्ञ इन्हें पहचान लेते हैं और जब चाहें, जहां चाहें वहां बिठा सकते हैं। ऐसा करने की हिम्मत तभी की जा सकती है जब स्वरों, सरगम, और अलंकारों, पकड़, आदि पर पूरा नियंत्रण हो। अलंकारों से पहचान तान लेने में भी सहायक होती है। किसी भी राग का पूरा स्वरू प लिखा नहीं जा सकता, गायक या वादक की कल्पना ही उसे आगे बढ़ाती है। तान लेते समय कौन-कौन से स्वरों को चुनना है और कितनी बार उन्हें किस स्वर के साथ लगाना है यह सब संगीतज्ञ गायन या वादन के दौरान ही सोचता है।

पकड़ स्वरों के ऐसे समूह को कहते हैं जिससे राग पहचाना जा सकता है। हर राग की अलग-अलग पकड़ होती है। क्या कभी ऐसा नहीं होता कि किसी गीत के केवल कुछ शब्द सुनते ही हमें तुरंत मालूम हो जाता है कि वह कौन सा गीत है। लगभग इसी को हम पकड़ कह सकते हैं। रागों को पहचानने के लिए कई बंदिशों में रागों में लगने वाले स्वरों, रागों के प्रयोग के समय और वादी-संवादी या वर्जित स्वरों का वर्णन किया जाता है। ऐसी बंदिशों को लक्षण गीत कहते हैं जिनसे राग संबंधी कई बातें चुटकियों में याद हो जाती हैं।

वादी रे, संवादि प, दोउ निषाद लग जायें।
औडव-संपूरन सुघर देस राग को गायें।।

ध-रि वादी, संवादि करि, रि-ध कोमल सुर मान।
प्रातः समय नीको लगे, भैरव राग महान।।

ग-नि कोमल, संवाद म-स, आरोही रि-प हानि।
अवरोही पंचम बरजि, बागेश्री पहचानि।।

कोमल सब ही सुर भले मध्यम वादी बखान।
षड़ज जहां संवादि है, ताहि भैरवी जान।।

शुद्ध सुरन सौं गाइए, ध-ग संवाद बखान।
राग बिलावल को समय, प्रातःकाल प्रमान।।

कवियों ने इन छोटी-छोटी तुकबंदियों में रागों की एक हल्की सी रूपरेखा खींची है। उनमें राग का नाम अवश्य है ताकि याद रखने में गड़बड़ी न हो। लक्षण गीत बड़ी बंदिशें भी हो सकती हैं।

रागों का मन पर तो प्रभाव पड़ता ही है, रागों के बाहरी जगत पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में भी कई कथाएं प्रचलित हैं। कहते हैं संगीत सम्राट तानसेन ने भरे दरबार में जब राग दीपक गाया तो दिये जल उठे और साथ ही उनके शरीर में इतनी गर्मी पैदा हुई कि उनका शरीर भी ताप से जलने लगा। उनकी पुत्री भी संगीत कला में निपुण थी। तब उसने राग मेघ गाया और घनघोर घटा घिर आई। वर्षा हुई और तब कहीं जाकर तानसेन को राहत मिली। इसी तरह श्रीराग के असर से सूखे पेड़ों में पत्तियों का उग आना, मालकौंस से पत्थर का पिघलना और हिंडोल राग से झूले का झूलना जैसे किस्से प्रचलित हैं। कुछ भी हो, लेकिन इतना तो सच है कि ध्वनियों का हम पर असर पड़ता है। तभी तो शोरगुल में सिर फटने लगता है और लोरी सुनकर नींद आ जाती है।

रागों को प्रस्तुत करने के दो तरीके हैं: निबद्ध और अनिबद्ध। अनिबद्ध गायन या वादन राग का स्वतंत्र रूप से किया गया विस्तार है जिसे आलाप भी कहते हैं। आलाप अकार में और नोम-तोम जैसे निरर्थक शब्दों में किया जाता है। अकार यानी केवल आ स्वर का प्रयोग। नोम-तोम नाम कैसे पड़ा इसका भी इतिहास है। बहुत पहले गायक

ईश्वर की आराधना संस्कृत श्लोकों और गीतों को गाकर किया करते थे जिनमें ओम् अनन्त नारायण, ओम् अनन्त हरि जैसे शब्द हुआ करते थे। धीरे-धीरे इन्हीं शब्दों की जगह नोम-तोम जैसे शब्दों ने ले ली। निबद्ध गायन या वादन वह है जो लय, ताल और शब्दों में बंधा हुआ है। इसे ही बंदिश भी कहते हैं। स्थाई और अंतरा बंदिश के दो भाग होते हैं। ध्रुपद, धमार, खयाल, टप्पा, ठुमरी, आदि निबद्ध संगीत के उदाहरण हैं।

राग में अलाप, खयाल, तानें प्रस्तुत की जाती हैं। शुरुआत आलाप से होती है। आलाप शब्द का अर्थ है राग को प्रकट करना या उसे बढ़ाना। आलाप राग का आधार होता है। किसी भी राग की बनी बनाई आकृति नहीं होती, उसे धीरे-धीरे बढ़ाना होता है। कलाकार राग में लगने वाले स्वरों को एक-एक करके इस तरह चुनता है जिससे उस राग का स्वरूप, विशेषताएं सुनने वाले के सामने धीरे-धीरे खुलती जाती हैं।

इसके बाद शुरू होती है रचना या बंदिश जिसे खयाल भी कहा जाता है। खयाल शब्द का अर्थ है कल्पना। संगीतज्ञ भी अपनी कल्पना से राग को आगे बढ़ाते हैं। जो खयाल विलंबित लय में होते हैं, उन्हें बड़ा खयाल और जो द्रुत लय में होते हैं उन्हें छोटा खयाल कहते हैं। राग प्रस्तुत करते समय पहले बड़ा खयाल और फिर छोटा खयाल गाया या बजाया जाता है। दोनों एक राग में होते हैं, लेकिन उनके बोल अलग-अलग होते हैं और तालें भी अलग हो सकती हैं। अक्सर बड़ा खयाल विलंबित एक ताल, तीन ताल, झूमरा जैसी तालों में प्रस्तुत किया जाता है। बड़ा खयाल गंभीर और छोटा खयाल चंचलता लिए हुए होता है। इसी दौरान तानें भी ली जाती हैं। तान शब्द संस्कृत के तन् से बना है जिसका अर्थ है तानना या बढ़ाना। स्वरों को फैलाने या तानने से ही तानें बनती हैं। तानें भी कई तरह की होती हैं जैसे शुद्ध तान, बोल तान, मिश्र तान, पलट तान, खटके की तान, झटके की तान, सपाट तान, लड़ंत तान, आदि। तानों के नाम उन्हें बनाने और उनके प्रयोग के अनुसार तय किए गये जैसे तान के साथ-साथ अगर गीत के बोल भी प्रस्तुत किये जायें तो वे बोल तान हो गयी, स्वरों पर धक्का लगाते हुए तान ली जाये तो खटके की तान और जिन तानों में स्वरों का क्रम एक सा हो और आरोह-अवरोह सीधा-सीधा हो वह शुद्ध तान कहलाती है। अधिकतर तानें अकार में ली जाती हैं। राग की समाप्ति तिहाई से होती है यानी तीन बार गीत के कुछ बोलों या स्वरों को सम पर लाकर छोड़ा जाता है।

4

शास्त्रीय, उपशास्त्रीय और लोक संगीत

भारतीय संगीत के तीन मुख्य रूप माने गये हैं: लोक संगीत, शास्त्रीय संगीत और उपशास्त्रीय या सुगम संगीत। वैदिक काल में केवल एक प्रकार का ही संगीत था जो मुख्य रूप से 'सामनों' के उच्चारण और गायन तक ही सीमित था। धीरे-धीरे समाज बदला, संस्कृति बदली और परिवेश भी बदला। साधारण लोगों ने जो संगीत अपनाया वह सरल और सरस था। उत्सवों, त्योहारों और समारोहों के समय सब मिल-जुलकर खुशी मनाते हुए, मस्ती और उल्लास से भरे गीत गाया करते थे। इस तरह सभी गीत और सभी नृत्य साधारण लोगों के रोजमर्रा के कामों, त्योहारों और विशेष अवसरों से जुड़ गये।

लोक संगीत

बीज बोने का समय हो या फसल काटने का, विवाह हो या तीज-त्योहार या संतान का जन्म, ये ऐसे अवसर हैं जिनमें लोग मिल-जुलकर खुशी बांटा करते हैं। मृत्यु होने पर गमी भी सामूहिक रूप से बांटी जाती है। मिल-जुलकर सुख-दुख बांटने की प्रक्रिया में खुद-ब-खुद कई तरह के गीतों और नृत्यों के रूपों को लोगों ने अपनाया। मौसम बदलते हैं तो वातावरण भी बदलता है और मन भी फागुन में फाग, चैत में चैती, सावन में कजली गाने को मचल उठता है। ऐसे गीतों और रागों का चलन मौसम की वजह से उत्पन्न भावों के कारण ही है। लोक जीवन से निकला हुआ यही संगीत लोक संगीत कहलाया। लोक संगीत किन्हीं नियमों से बंधा हुआ नहीं होता बल्कि वह हर व्यक्ति के लिए उसके मन के अनुरूप हो सकता है। उसमें पूरे समुदाय या समाज की भागीदारी होती है। सभी लोगों के लिए संगीत के नियमों का पालन करना मुश्किल है, इसलिए जो जिस प्रकार संगीत से आनंद ले सकता है उसे उसकी पूरी छूट होती है। यही कारण है कि तीज-त्योहारों पर गाये जाने वाले गीतों में यदि कोई स्वर ठीक नहीं भी लगता या किसी की आवाज पतली,

किसी की भारी या लय में न भी हो तो भी आनंद में कमी नहीं आती।

लोक संगीत में वाद्यों का प्रयोग अधिकतर गायकों या नर्तकों को संगत देने के लिए ही होता है। यदि वाद्य अकेले बजाये भी जाते हैं तो उनका मकसद या तो गीतों के बोलों को दोहराने के लिए या गायकों और नर्तकों को थोड़ा विश्राम देने के लिए किया जाता है। लोक संगीत में मिल-जुलकर भाग लेने का खुशी और उमंग के अलावा एक

कुछ प्रमुख लोक गीत

1. सोहर	:	बच्चे के जन्म की खुशी में औरतें ढोलक बजा कर सोहर गाती हैं।
2. घोड़ी, बन्ना, मांडवा, भात, विरहा और गारी	:	विवाह की विभिनन रस्मों पर गाये जाते हैं।
3. चंदैनी	:	यह ग्वालों का गीत है ।
4. नउवा भक्कड़	:	यह नाइयों का गीत है जो विवाह के अवसर पर गाया जाता है ।
5. आल्हा	:	जोश भर देने वाले आल्हा में आल्हा-ऊदल की ऐतिहासिक लड़ाई का बखान किया जाता है।
6. मांड	:	राजाओं की प्रशंसा में कभी मांड गाये जाते थे। ये मारवाड़ के गीत हैं।
7. बारहमासी	:	भगवान राम और कृष्ण की लीलाओं का बखान करते हुए बारह महीनों के नाम इस गीत में लिए जाते हैं।
8. फाग	:	फागुन के महीने में वसंत पंचमी के दिन इसे पुरुष गाते हैं।
9. कजली	:	सावन के महीने में कजली गाई जाती है । बनारस और मिर्जापुर की कजली बहुत मशहूर है। कजली में बहुत ही मधुरता के साथ वर्षा ऋतु और राधा-कृष्ण की लीलाओं का बखान किया जाता है। लड़कियां और औरतें झूला झूलते हुए कजली गाती हैं।
10. होली	:	होली के बाद चैत के महीने में चैती गाई जाती है।
11. वलयप्पट्टू, मुगवईपट्टू	:	फसल काटने और रोपने के समय दक्षिण भारत में प्रचलित लोकगीत।
12. वालांडनई, पल्लू	:	दक्षिण के खानाबदोशों के गीत।
13. कुम्मी, कोलाट्टम	:	मन बहलाव के लिए दक्षिण भारत में प्रचलित गीत।

और कारण हो सकता है। फसल बोना या काटना बड़ा बोझिल और थकाने वाला काम है। सामूहिक संगीत इस थकान को बांटकर कम कर देता है और काम आसानी से निपट जाता है। बोझा ढोते मजदूर, घरों में मसाला कूटती औरतें, घाट पर कपड़े धोते धोबी और नाव खेते नाविक गीत गाकर अपने-अपने काम को सरल और रोचक बनाते हैं और इसी बहाने तनाव और थकान को दूर भगा देते हैं।

राजस्थान का मांड और लंगा तथा मांगनियार जातियों का संगीत, बंगाल के जात्रा गीत, उत्तर प्रदेश का आल्हा, मध्य प्रदेश–छत्तीसगढ़ की पंडवानी, गुजरात का हवेली संगीत, महाराष्ट्र का पवाडा और लावणी, पश्चिमी तट पर बसने वाली कुरुप जाति के सोपानम गीत ही नहीं और भी कई तरह के लोक गीत भारत की धरती पर गूंजते रहते हैं।

शास्त्रीय संगीत

शास्त्रीय संगीत नियमों में बंधा होता है। स्वर, राग, तानें इत्यादि शास्त्रीय संगीत के वे अंग हैं जो उसे लोक संगीत से अलग करते हैं। लोक संगीत से ही शास्त्रीय संगीत का जन्म हुआ और इसीलिए लोक संगीत की धुनों में कुछ रागों की झलक कभी-कभार मिल जाती है। शास्त्रीय संगीत नियमों में बंधी वह शैली है जिसके लिए गायक और वादक को कठिन अभ्यास करना पड़ता है। यह जानकर आश्चर्य होता है कि गायकों और वादकों को सरगम के 'सा' को साधने में ही महीनों लग जाते हैं। शास्त्रीय संगीतज्ञ गाना-बजाना आ जाने पर भी घंटों अभ्यास करते हैं। इस अभ्यास को रियाज करना कहा जाता है। शास्त्रीय संगीत में गायक या वादक जब किसी राग की गहराई में डूबकर उसे अपने तरीके से सजाता और प्रस्तुत करता है तो उसकी कलाकारी उभरकर सामने आती है जबकि लोक संगीत में सामूहिकता ही अर्थ रखती है। लोकगीत गाते समय यदि कोई लय या ताल में थोड़ा बहुत हेरफेर कर दे या स्वर ऊपर-नीचे लगा दे या धुन ही अपने हिसाब से बदल दे तो कोई फर्क नहीं पड़ता। लोक संगीत का असल रूप तो तब ही सामने आता है जब मस्त होकर, झूम-झूमकर पूरा समुदाय उसमें शामिल होता है। शास्त्रीय संगीत में ऐसा हर्गिज नहीं है। मान लीजिए एक कलाकार राग यमन प्रस्तुत कर रहा है। यमन में 'म' तीव्र या चढ़ा हुआ होता है। अगर कलाकार गलती से तीव्र की जगह शुद्ध 'म' लगा देता है तो वह राग यमन ही कहां रहा! इसी तरह उसे यमन के ही वादी-संवादी स्वरों का ध्यान रखना होता है। यही नियम है। इसके अलावा उसे ताल के साथ भी ताल-मेल बिठाना होता

है। इन सबके ऊपर शास्त्रीय संगीत में गायक की आवाज और वादक के हाथों में उतनी मधुरता तो होनी ही चाहिए जिससे सुनने वाले के मन में वह रस और आनंद पैदा हो जो उसे बेसुध कर सके।

शास्त्रीय संगीत की कुछ शैलियां

ध्रुवपद या ध्रुपद

ध्रुवपद का अर्थ है वह पद जो अचल और अटल हो। पंद्रहवीं शताब्दी में ग्वालियर के महाराजा मानसिंह तोमर ने ध्रुवपद गायकी को न सिर्फ अपने दरबार में जगह दी बल्कि खुद भी कई ध्रुवपदों की रचना की। ध्रुवपद गायकी बहुत ही प्राचीन शैली है। बहुत पहले ऋषि-मुनि ध्रुवपद में संस्कृत श्लोकों को गाकर ईश्वर की आराधना किया करते थे। धीरे-धीरे जब संगीत दरबारों की शोभा बनने लगा तो गायकों ने उन्हें राजाओं की प्रशंसा में गाना शुरू किया। 10वीं शताब्दी से ही भारत पर विदेशियों के हमले शुरू हो गये थे। विदेशी भाषाओं और संस्कृतियों का भारत पर असर तो पड़ना ही था। हमारे सभी ग्रंथ संस्कृत में रचे गये थे, लेकिन सभी लोगों को संस्कृत आती नहीं थी। इसलिए श्लोकों और पदों को सुन-सुनकर उनके अर्थ समझकर लोगों ने अपनी-अपनी बोलियों में उन्हें ढाला।



डागर बंधु

अधिकतर ध्रुवपद गीत हिंदी, उर्दू और ब्रजभाषा में हैं। इसके अलावा संस्कृत समझ न आने पर लोगों ने स्वरों के रूप को ध्यान में रख कर री, दा, ना, तोम, नोम, जैसे कई शब्द गढ़े। इन्हीं शब्दों से ध्रुवपद की शुरुआत होती है। ध्रुवपद बहुत ही गंभीरता लिए होता है और विलंबित गति से शुरू किया जाता है। धीरे-धीरे गायन की गति बढ़ाई जाती

है। अधिकतर इसे पुरुष ही गाते हैं। चौताल, सुरफाख्ता, झंपा, ब्रह्मताल आदि कुछ ताल हैं जिनमें ध्रुवपद गाने की परंपरा है। वीर और शांत भाव प्रकट करने वाले ध्रुवपदों की भाषा भी ऊंची श्रेणी की होती है। ध्रुवपद गायकों को ध्रुपदिये या कलावंत भी कहा जाता है।

स्व. पंडित रामचतुर मल्लिक, स्व. पंडित सियाराम तिवारी, डागर बंधु और गुंडेचा बंधु ध्रुपद गायकी के जाने-माने नाम हैं।

खयाल

खयाल उर्दू शब्द है जिसका अर्थ है कल्पना। खयाल के बारे में हम थोड़ी बहुत चर्चा पहले भी कर चुके हैं। आजकल खयाल गायकी का चलन अधिक है। 13वीं शताब्दी में दिल्ली के शासक अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में हजरत अमीर खुसरो नाम के एक शायर और संगीतज्ञ थे। खिलजी का शासन दक्षिण में देवगिरी तक पहुंच चुका था। देवगिरी के दरबारी गायक गोपाल नायक को दिल्ली दरबार में तलब किया गया। अमीर खुसरो गोपाल नायक के संगीत से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने हिंदुस्तानी संगीत और फारस के संगीत के मेल से कई नई शैलियों को जन्म दिया। इनमें खयाल भी एक था। आलाप और तानें खयाल गायकी की विशेषताएं हैं। इस शैली में शृंगार, मोहकता और चंचलता अधिक होती है।

18वीं शताब्दी में यह शैली पूरी तरह लोकप्रिय हुई। उस समय सुलतान मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार में अदारंग और सदारंग नाम के गायकों ने इस शैली में कई गीतों की रचना की।

धमार

धमा-चौकड़ी, धूम-धाम, धमा-धम, धमाल इन सब शब्दों में संस्कृत की धम् धातु है जिसका अर्थ है मस्ती में भरकर उछल-कूद मचाना। यही अर्थ धमार से भी निकलता है। लोक संगीत में धमार टोलियों में ढोल बजाकर होली के मौके पर गाया जाता है। शास्त्रीय संगीत में धमार गायन का रूप चुस्ती-फुर्ती और मस्ती झलकाने वाला ही है। इसे 14 मात्रा की धमार ताल में पखावज पर गाया जाता है। इसे अकसर ध्रुपद के बाद ही गाने का चलन है। शायद ध्रुपद की गंभीरता के बाद धमार की मस्ती गायन को संपूर्ण करती है।

बहुत पहले जब मुगल दरबारों में धूम-धाम से होली खेली जाती थी, तभी से धमार गायकी का चलन शुरू हुआ। धमार के गीतों में होली के कई रूप दिखते हैं जैसे बादशाहों से होली के मौके पर इनाम पाने की इच्छा, उनका गुणगान, सखियों का रूठी हुई नायिका को होली खेलने के लिए मनाना और इन सबके अलावा ब्रज क्षेत्र की धुआंधार होली का बखान और राधा-कृष्ण की होली, आदि। तानसेन, नेमत खां सदारंग और उनके भतीजे फीरोज खां अदारंग जैसे गायकों ने सैकड़ों धमारों की रचना की।

मंदिरों में धमार का एक दूसरा ही रूप दिखता है। वैष्णव संतों के रचे गये पदों को धमार ताल में गाने पर उन्हें धमार कहते हैं।

सादरा

सादरा भी ध्रुपद की तरह ही गाया जाता है। अधिकतर इसे 10 मात्रा की झपताल में पेश किया जाता है। कहते हैं कि दो भाइयों शिवमोहन और शिवनाथ ने बैजू बावरा की शैली से प्रभावित होकर सादरा शैली शुरू की। ये दोनों भाई क्योंकि शाहदरा के रहने वाले थे इसलिए इस शैली का नाम सादरा पड़ गया।

तराना

तराना गायकी में बोलों का कोई अर्थ नहीं होता। ता, ना, तादारे, तादानी, तानोम आदि शब्दों का प्रयोग इसमें किया जाता है। तराने में स्थायी और अंतरा दो भाग होते हैं। ताल और राग में निबद्ध तराने संगीत की दुनिया में अमीर खुसरो की ही देन हैं। अमीर खुसरो अरबी भाषा के विद्वान थे। स्वरों तक पहुंचने के लिए उन्होंने कई अर्थहीन शब्द गढ़े और इस तरह एक नई शैली का जन्म हुआ। तानरस खां, नत्थू खां, बहादुर हुसैन खां के तराने भी प्रसिद्ध माने जाते हैं।

त्रिवट या तिरवट

त्रिवट भी अर्थहीन शब्दों में प्रस्तुत किया जाता है। राग और ताल में निबद्ध त्रिवट की रचनाओं में पखावज के बोल अधिक होते हैं। आजकल त्रिवट गायकी कम ही सुनने को मिलती है।

चतुरंग

चतुरंग शास्त्रीय गायन शैलियों के चार रंगों से मिलकर बनता है। खयाल, तराना, सरगम और त्रिवट शास्त्रीय संगीत के वे चार रंग हैं जो चतुरंग में शामिल रहते हैं। चतुरंग को खयाल की तरह ही गाया जाता है। पहले भाग में गीत के शब्द, दूसरे में तराने के बोल, तीसरे में सरगम और चौथे में पखावज के बोल होते हैं।

उपशास्त्रीय संगीत की कुछ शैलियां

शास्त्रीय संगीत में जितनी सख्ती से राग, स्वरों आदि का पालन करना होता है, उतना उपशास्त्रीय संगीत में नहीं। उपशास्त्रीय संगीत में थोड़ी-बहुत छूट मिलने की संभावना रहती है। वैसे भी जिसे पक्का गाना कहते हैं, यानी शास्त्रीय संगीत, वो कम लोगों को ही भाता है। इसका कारण यह भी है कि अधिकतर लोग शास्त्रीय संगीत की गहराई तक उसे समझ नहीं पाते। और फिर कम लोगों को ही शास्त्रों और नियमों का ज्ञान होता है। उपशास्त्रीय संगीत अधिक लोगों को इसलिए भी पसंद आता है क्योंकि वह शास्त्रीयता लिए हुए लोक संगीत से भी जुड़ा होता है। इसका मतलब यह नहीं कि उपशास्त्रीय संगीत सीखने और गाने के लिए मेहनत नहीं करनी पड़ती। वह उतना ही कठिन है जितना कि शास्त्रीय संगीत। यहां भी राग, ताल, लय का सुंदर मेल है, लेकिन उपशास्त्रीय संगीत का रूप चंचलता और मधुरता लिए हुए होता है, उतना गंभीर नहीं जितना कि शास्त्रीय संगीत होता है। उपशास्त्रीय संगीत में हम ठुमरी, टप्पा, दादरा, कजरी, चैती, कव्वाली, भजन-कीर्तन और गज़ल को रख सकते हैं।

ठुमरी

जब कोई छोटी सी बच्ची ठुमक-ठुमक कर इतराती हुई छम-छम करती हुई चलती है तब कोमलता का जो भाव या जो मधुर रूप उससे प्रकट होता है वैसा ही भाव ठुमरी में भी झलकता है। दरअसल ठुमरी शब्द में ही ठुमकने का अर्थ छिपा हुआ है। इसमें गीत बहुत छोटे होते हैं। उनमें शब्द भी कम ही होते हैं लेकिन शब्दों को कई तरह से बताया जाता है। जितने भी तरह के भाव उन गिने-चुने शब्दों से निकल सकते हैं उन्हें खोल कर भली प्रकार से सामने लाया जाता है।

ठुमरी का जन्म लखनऊ के नबाब वाजिद अली शाह के दरबार में हुआ। वैसे यह भी कहते हैं कि प्राचीन काल में भी ठुमरी की तरह कई शैलियां चलन में थीं जिन्हें झुमरी, त्रिपदी, आदि कहा जाता था। ठुमरी के गीत रचने वालों में बरेली के रहने वाले तवक्कुल हुसैन खां का नाम प्रसिद्ध है। लेकिन ठुमरियों के गीत यह 'सनद पिया' के नाम से लिखते थे। ठुमरी गानेवालों में ग्वालियर के राजकुमार भैया गनपतराव, बनारस की सिद्धेश्वरी देवी, गिरिजा देवी, आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। आजकल इन नामों को नयी पीढ़ी कम पहचानती है, लेकिन ये वो लोग हैं जिन्होंने ठुमरी के जरिये संगीत को लोकप्रिय बनाया।



सिद्धेश्वरी देवी

लखनऊ, बनारस और पंजाब में ठुमरी अलग-अलग रूपों के लिए जानी जाती है। लखनऊ की ठुमरी में जहां गीत के साथ अभिनय अधिक है, वहीं बनारस की ठुमरी में स्वरों की मधुरता अधिक है। ठुमरी किसी भी राग में गाने की चीज नहीं है। ऐसे राग जिनके स्वरों में कोमलता और मधुरता हो वही ठुमरी के लिए ठीक रहते हैं जैसे काफी, खमाज, भैरवी, पीलू, पहाड़ी और जोगिया। ठुमरी अधिकतर दीपचंदी, रूपक तथा पंजाबी तीन ताल में ही गाई जाती है।

टप्पा

टापना शब्द के अर्थ हैं कूदना, फांदना, उछाल, आदि। लड़कियां रस्सी टापती हैं, घोड़ा दीवार टाप सकता है, वगैरह-वगैरह। टप्पा टापना शब्द से ही बना है। टप्पा तेज गति से गाया जाता है। इसका रूप बहुत ही चंचल और चपल होता है। यह एक पंजाबी लोकगीत शैली है जिसे एक जमाने में ऊंट-गाड़ी चलाने वाले गाया करते थे। लखनऊ के नवाब आसिफउद्दौला के दरबार में एक पंजाबी गायक मियां शोरी थे जिन्होंने इस शैली में शास्त्रीय संगीत की विशेषताएं मिलाईं और जो नयी शैली बनी, उसे टप्पा नाम दिया। इस गायकी में पंजाबी भाषा के शब्द होते हैं। टप्पे में पंजाबी भाषा के उछाल और झटकों का असर तो दिखता है, लेकिन कोमलता और मधुरता बराबर बनी रहती है। टप्पे अधिकतर राग काफी, भैरवी, खमाज, झिंझोटी, आदि रागों में ही गाये जाते हैं।

दादरा

दादरा ताल में गाई जाने वाली शैली को दादरा कहा जाता है। गीत में शब्दों के महत्व और कुछ रागों में ही इसे प्रस्तुत करने के अर्थ में दादरा ठुमरी जैसा ही होता है। इसलिए इसे अकसर ठुमरी के साथ ही गाया जाता है। दादरा गंभीर नहीं बल्कि चंचलता लिए हुए होता है। इसे दादरा ताल के अलावा कुछ और तालों में भी गाया जा सकता है।

कजरी और चैती

कजरी और चैती की बात हम पहले कर ही चुके हैं। ये दोनों ही उत्तर प्रदेश और बिहार के लोकगीत हैं। कजरी सावन के महीने में और चैती चैत्र के महीने में गाई जाती है।

कजरी और चैती दोनों को ही स्त्रियां गाती हैं। कजरी का संबंध कज्जली-त्योहार से भी जोड़ा जाता है। यह स्त्रियों का त्योहार होता है। इस दिन नये-नये वस्त्र पहनकर स्त्रियां कज्जली देवी की पूजा करती हैं और रात भर कजरी गाती हैं। कजरी को तो बाकायदा उस्ताद लोग सिखाते हैं। उस्तादों की परंपरा को अखाड़ा कहा जाता है। सावन के महीने में कजरी गाने वाले दो दलों में बंट जाते हैं और दो मंचों पर आमने-सामने बैठकर गीतों में ही एक-दूसरे से सवाल-जवाब करते हैं। इस प्रतियोगिता को दंगल कहा जाता है। बनारस में कजरी इतनी लोकप्रिय है कि इस तरह के दंगलों को देखने और सुनने वालों की भीड़ लग जाती है।

मिर्जापुर की कजरी भी कम लोकप्रिय नहीं है। यहां भी सावन में रात-रात भर कजरी उत्सव होते हैं जिनमें कजरी सुनने वाले दूर-दूर से आते हैं।

कव्वाली

कव्वाली में कौल शब्द है जिसका अर्थ होता है कहना, बात करना, प्रतिज्ञा या वचन। कौल गाने वाले को कव्वाल और जिस शैली में कव्वाल गज़लों को गाता है उसे कव्वाली कहते हैं। इन गज़लों में ईश्वर या खुदा से प्रेम और उस तक पहुंचने की बातें होती हैं। भारत में कव्वाली 13वीं शताब्दी से शुरू हुई। उस जमाने में कई संत पुरुष हुए जिन्हें सूफी कहा गया। सूफियों ने साधारण लोगों में भक्ति पैदा करने के लिए कई गज़लें रचीं। अमीर खुसरो ऐसे ही एक सूफी कवि थे। दिल्ली में शेख निज़ामुद्दीन चिश्ती की मज़ार के

पास ही अमीर खुसरो की मज़ार भी है जो यह साबित करती है कि एक सूफी संत और सूफी कवि के बीच कितना प्रेम और कितना गहरा संबंध था। वास्तव में कव्वालियों का प्रभाव उन स्थानों पर ज्यादा रहा जिन स्थानों पर चिश्ती परंपरा के सूफी संतों का प्रभाव था।

कव्वाली समूह में ही गाई जाती है। एक मुख्य गायक होता है और बाकी सब उसका साथ देते हैं। गज़ल का एक शेर मुख्य गायक गाता है और उसके साथी उसे दोहराते हैं। ढोलक, तबला और खंजरी कव्वाली में ताल देने के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। हाथों से तालियां बजाते हुए कव्वाली गाना इस शैली की विशेषता है। अकसर कव्वाली की प्रतियोगिताएं भी होती हैं। तब कव्वालों के दो दल आमने-सामने बैठते हैं और कव्वाली में ही एक-दूसरे के सवालों के जवाब देते हैं।

गज़ल


बेगम अख्तर

गज़ल अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है प्रेमी से बातचीत। गज़ल में प्रेमी कोई भी हो सकता है: प्रकृति, जीवन, इंसान या ईश्वर। जब ईश्वर से प्रेम की बात गज़ल में की जाती है, तब उसे कव्वाली कहा जाता है। गज़ल उर्दू और फारसी भाषा की कविता का एक विशेष रूप है। एक गज़ल में कम से कम पांच और अधिक से अधिक ग्यारह शेर होते हैं। शेर दो पंक्तियों की कविता को कहते हैं जिसके अंत में एक सी ही तुकबंदी होती है। गज़ल के पहले शेर को मत्ला और अंतिम शेर को मक्ता कहा जाता है। मक्ते में शायर या शेर कहने वाला अपना नाम रखता है। गज़लों के संग्रह को दीवान कहते हैं। पुराने जमाने में गज़लों को गाया नहीं जाता था बल्कि उन्हें कविता की तरह सुनाया जाता था। गज़ल में शब्दों के अर्थों का बहुत महत्व है, इसलिए वह गायक ही गज़ल गाने में सफल होते हैं जिन्हें उर्दू-फारसी अच्छी तरह से आती हो और जिनका उच्चारण भी साफ हो। अख्तरी बाई जिन्हें बेगम अख्तर के नाम से जाना जाता है एक मशहूर गज़ल गायिका थीं।

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश, अलाउद्दीन खिलजी, कुतुबुद्दीन खिलजी, गयासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद तुगलक के शासन काल में भी ग़ज़लें बहुत लोकप्रिय थीं। इन शासकों ने ग़ज़ल और ग़ज़ल कहने वाले शायरों का बहुत सम्मान किया।

ग़ज़लों को रूपक, दीपचंदी, दादरा और कहरवा तालों में गाया जाता है। आज के समय में ग़ज़लों को लोकप्रिय बनाने में फिल्मों का भी योगदान रहा है।

भजन

भजन संस्कृत की धातु भज् से बना हुआ शब्द है जिसका अर्थ है सेवा करना। भजन वो गीत होते हैं जिनमें ईश्वर की पूजा और उसकी लीलाओं का वर्णन किया जाता है। भजन में हम अपने मन की बात ईश्वर को सुनाते हैं, ईश्वर से अपने लिए शक्ति, बुद्धि, सुख, धन-दौलत और अच्छे स्वास्थ्य की मांग करते हैं। भक्ति मार्ग में अपने को ईश्वर तक पहुंचाने के लिए संत कवियों ने भजन का सहारा लिया। तुलसीदास, सूरदास, नामदेव, स्वामी हरिदास, मीराबाई, पुरंदरदास आदि न जाने कितने संत भारत में पैदा हुए जिन्होंने कई भजनों की रचना की। मीराबाई तो बचपन से ही कृष्ण की भक्त थीं। सुख-संपत्ति छोड़कर वह कृष्ण तक अपनी बात पहुंचाने के लिए मंदिर में भजन गाया करती थीं और कृष्ण में इतना गहरा विश्वास था कि उन्होंने जहर का प्याला भी हंसते-हंसते कृष्ण का नाम लेते हुए पी लिया था। तुलसीदास जहां राम भक्त थे वहीं सूरदास कृष्ण भक्त थे। इन संतों की रचनाएं आज भी गाई जाती हैं।

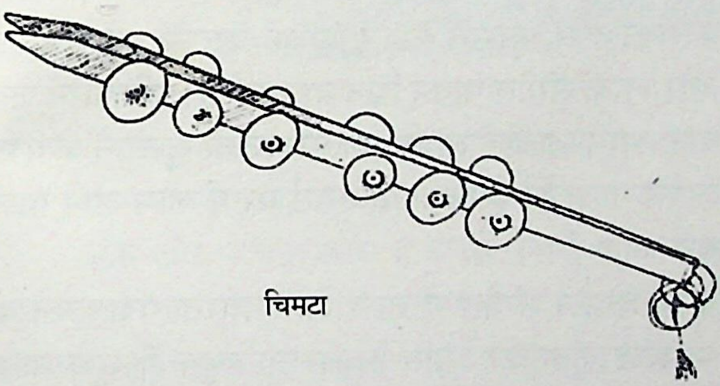
भजन को किसी राग में बांधकर भी गाते हैं और ऐसे भी भजन हैं जो एक राग में न होकर कई रागों के स्वरों से तैयार हुए हैं। भजन अधिकतर कहरवा, दादरा, रूपक और तीन ताल में गाये जाते हैं। भजन की विशेष बात यह है कि इसे आम आदमी अकेले भी गा सकता है और समूह में भी। पहले भजन घरों में और मंदिरों में ही गाये जाते थे पर अब शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों में भी गायक अकसर भजन प्रस्तुत करते हैं। यह जरूर है कि शास्त्रीय गायकों के गाये गये भजनों में राग, ताल और लय की शुद्धता होती है। भजन का रूप क्योंकि विनम्र होता है, इसलिए किन रागों में भजन गाए जायें, यह तय करना बहुत आवश्यक होता है। पारंपरिक भजन अकसर राग देस, सारंग, भैरव, मांड, कल्याण और मल्हार में गाये जाते हैं।

जिस तरह ग़ज़लों के अंतिम शेर में शायर का नाम आता है, उसी तरह भजनों में भी अंतिम पद या पंक्तियों में उस भजन के रचयिता का नाम होता है। दरअसल अंतिम पद में कवि का नाम रखने का चलन तब से है जब अधिकांश लोगों को लिखना-पढ़ना नहीं आता था।

5

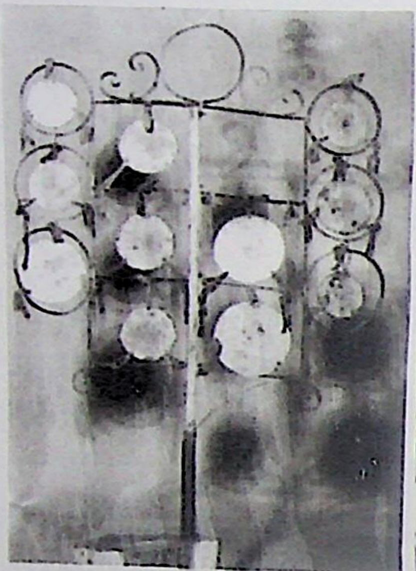
वाद्य यंत्रों का अमूल्य खजाना

नृत्य हों या गीत वाद्यों के बगैर दोनों ही बेजान लगते हैं। गीत और नृत्य में वाद्य रोचकता पैदा करते हैं, उन्हें और भी अधिक मधुर बनाते हैं। आज हम कई प्रकार के वाद्य देखते हैं और सुनते हैं और यह भी जानते हैं कि संगीत की विभिन्न विधाओं में विभिन्न वाद्यों का प्रयोग होता है। जैसे कर्नाटक संगीत में यदि मृदंग, वायलिन, घटम् आदि मुख्य वाद्य हैं तो हिंदुस्तानी या उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में तबला, पखावज, सितार, आदि मुख्य हैं और लोक संगीत में इन वाद्यों से एकदम अलग वाद्य प्रयोग में लाये जाते हैं जैसे ढोल, नगाड़ा, पुंग, तुरही, एकतारा, झांझ, आदि। आदिवासियों के वाद्य इन सबसे अलग हैं जैसे असम के आदिवासियों का गिनटांग, मध्य प्रदेश के गोंडों का डंडा, त्रिपुरा के आदिवासियों का लेबांग-टी आदि। इसी तरह विभिन्न संप्रदाय जैसे सिद्दी, जोगी, नांबियार, लामा, आदि भी अपने-अपने संगीत के लिए एकदम ही अलग वाद्य प्रयोग करते हैं।



चिमटा

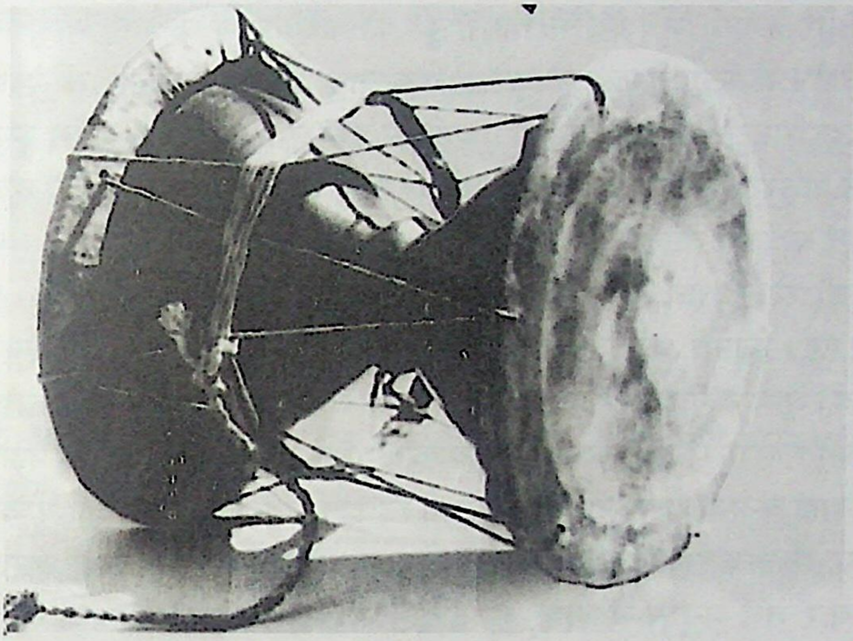
भारतीय संगीत में इस्तेमाल होने वाले छोटे-बड़े सब मिलाकर कोई 500 वाद्य हैं। बहुत से वाद्यों को तो हम अपने घरों में ही देखते हैं और रोज उन्हें काम में भी लाते हैं। ऐसे वाद्य अधिकतर लोक संगीत और लोक नृत्यों में इस्तेमाल किये जाते हैं। गुजरात का एक बहुत प्रसिद्ध लोकनृत्य है गरबा। गरबा में नाचते समय छोटी-छोटी दो छड़ियों को



श्रीमंडल

आपस में टकराकर ताल पैदा की जाती है। इन्हें डंडी भी कहते हैं और यहीं से नृत्य का नाम पड़ा डांडिया। चिमटा हर रसोई घर में होता है। तवे पर से रोटी चिमटे की मदद से ही पलटी जाती है। अब इसी चिमटे को यदि कुछ और लंबा करके उस पर धातु के छोटे-छोटे गोल टुकड़े बांध दिये जाये और बजाया जाये तो मधुर ध्वनि पैदा होती है। फकीर लोग भजन गाते समय ऐसा ही चिमटा बजाते हैं। इसी तरह थाली भी तब वाद्य बन जाती है जब छड़ से उस पर चोट की जाती है। राजस्थानी लोकसंगीत में श्रीमंडल नाम का वाद्य विभिन्न आकार-प्रकार की छोटी-छोटी थालियों से ही बनता है। महाराष्ट्र में स्त्रियां घरेलू कामकाज से फुरसत पाकर घर के बरतनों को बजाकर और लोक संगीत गाकर दिल बहलाती हैं। पनिहारिनें जब पानी भरने जाती हैं तो पनघट पर बैठकर सुस्ताने के लिए अपनी गगरियां और मटके बजाकर गीत गाती हैं। इस तरह रोजमर्रा घर में काम आने वाले बरतन भी लोक संगीत के वाद्य बन जाते हैं।

प्राचीन काल में वाद्यों का काम केवल संगीत में ताल और मधुरता पैदा करने के लिए ही नहीं होता था। पूजा-पाठ में शंख फूंक कर ध्वनि निकालना बहुत ही शुभ माना जाता है। गांवों में जब कोई सूचना देनी होती है तब ढोलची ढोल पीटकर गांव वालों को इकट्ठा कर लेता है। जब सब लोग आ जाते हैं तब वह जरूरी बात उन सबको बताता है। इस तरह ढोल संदेश देने के काम भी आता है। पुराने जमाने में राजा-महाराजाओं के हुक्म सुनाने के लिए ढोल और नगाड़े बजाये जाते थे। युद्ध शुरू होने और समाप्त होने की सूचना देने के लिए रणभेरी, दुंदुंभि, शंख और तुरही जैसे वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। आज भी सेना की परेड में तुरही या बिगुल बजाकर मुख्य अतिथि के आने की सूचना दी जाती है। स्वाधीनता दिवस के अवसर पर आज भी लालकिले की प्राचीर पर हाथों में तुरहियां लिए हुए सेना के जवान पुरानी परंपरा की याद को ताजा करते हैं। बहुत पहले जब रथों पर सवार होकर सैनिक युद्ध के लिए निकलते थे तो दुंदुंभि बजाई जाती थीं। दुंदुंभि की आवाज सुनकर सारथियों का हौसला बढ़ जाता था और वे अपने-अपने रथों



डमरू

को तेजी से हांकते थे। जब राजा-महाराजा यज्ञ करवाते थे तो यज्ञ स्थान के चारों ओर दुंदुभियां सजाई जाती थीं। माना जाता था कि ऐसा करने से निश्चित रूप से उनकी जीत होगी।

एक और प्राचीन वाद्य है डमरू जिसे शिवजी का वाद्य कहा गया है। कहते हैं कि बहुत पहले जब शब्द नहीं था तब एक बार शिवजी ने अपना डमरू बजाया। डमरू से जो ध्वनियां निकलीं उनका 14 सूत्रों में वर्णन किया गया। कहा जाता है कि इन्हीं सूत्रों से संसार भर की भाषाओं का जन्म हुआ। आज भी हम डमरूका प्रयोग कई जगह देखते हैं। नट जब अपने करतब दिखाता है तो डमरू बजाकर उसका साथी उसका हौसला बढ़ाता है। डमरू की आवाज सुनकर हममें से कोई नाचे या न नाचे लेकिन मदारी का बंदर तो नाचता ही है। प्राचीन वाद्यों में भेरी नाम के वाद्य की आवाज तो इतनी दूर तक जाती थी कि भेरी बजाने के बाद यदि कोई चालीस कदम आगे बढ़ता तो भी उसे भेरी की गूंज सुनाई देती थी।

अति प्राचीन वाद्यों की उत्पत्ति को लेकर कई रोचक पौराणिक कथाएं प्रचलित हैं। कहा जाता है कि एक समय पृथ्वी पर दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। इनमें से एक का नाम तूर्यांग था। इसी कल्पवृक्ष ने मनुष्यों को चार प्रकार के वाद्य दिये। वैसे तूर्यांग एक प्राचीन वाद्य का नाम भी है।

एक और कहानी में शिव ने त्रिपुरासुर का वध करने के बाद नृत्य किया। ब्रह्मा ने उसमें ताल देने के लिए मिट्टी के घड़े से एक वाद्य की रचना की जिसे मृदंग कहा गया। संस्कृत में मृदा मिट्टी को कहते हैं और यहीं से इस वाद्य का नाम मृदंग रखा गया। एक अन्य कथा के अनुसार मृदंग का निर्माण स्वाति नाम के ऋषि ने किया था। एक बार स्वाति मुनि पानी लेने के लिए तालाब पर गये। इतने में वर्षा होने लगी। वर्षा की बूंदें पहले धीरे-धीरे, फिर तेजी से तालाब में खिले कमलों की पंखुड़ियों पर गिरने लगीं। इससे अनेक ध्वनियां पैदा हुईं। स्वाति मुनि को ये ध्वनियां बहुत अच्छी लगीं। उन्होंने उन ध्वनियों को याद कर लिया। वापस लौटकर स्वाति मुनि ने सारी घटना विश्वकर्मा को बताई। विश्वकर्मा ऐसे मुनि थे जो कारीगरी में अव्वल थे। विश्वकर्मा ने उन ध्वनियों को समझा और मिट्टी से एक ऐसा वाद्य बनाया जिससे वही ध्वनियां निकल सकें। इस वाद्य को पुष्कर कहा गया। बाद में पुष्कर में लकड़ी और धातु का प्रयोग करके मृदंग जैसा वाद्य बना।

एक बार जब मनुष्य ने वाद्य बना लिए और उन्हें प्रयोग में लाया तो कुछ में कमी नजर आई। उस कमी को दूर करने के लिए वाद्य में थोड़ा बहुत बदलाव लाया गया। इस प्रक्रिया में उस वाद्य से फर्क एक नया वाद्य बन गया। नये-नये वाद्य मनुष्य के हमेशा कुछ नया ढूंढ़ने वाले स्वभाव के कारण बने। बाण नाम के एक प्राचीन वाद्य में 100 तार थे जिसने वर्षों बाद संतूर की शक्ल ले ली।

पौराणिक काल में दो अलग-अलग नगाड़ों को एक साथ बजाया जाता था। इनकी जोड़ी को संबल कहते थे। हो सकता है कि आज के तबले की जोड़ी का आधार कभी संबल ही रहा हो। तारों से बजने वाला एक और वाद्य है सुरसिंगार। यह कैसे बना इस बारे में एक रोचक घटना बताई जाती है। एक बार बनारस के राजदरबार में तानसेन के वंशज ज़फर खां और निर्मल शाह नाम के संगीतज्ञों के बीच संगीत का मुकाबला होना था। पहले निर्मल शाह ने वीणा बजाई। फिर ज़फर खां की बारी आई। उन्हें रबाब बजाना था, लेकिन बारिश में उनके वाद्य का चमड़ा सील गया था। वे ठीक से रबाब बजा नहीं पाये। उन्होंने बनारस के राजा से यह सोचकर एक महीने का समय मांगा कि इतने समय में वह एक नया रबाब बनवा लेंगे। वह वाद्य बनाने वाले कारीगर के पास गये और रबाब जैसा ही वाद्य बनवाया, लेकिन उसमें चमड़े की जगह धातु की चादर और धातु के तार लगवाये। इस नये वाद्य की आवाज पिछले वाद्य से कहीं अधिक अच्छी निकली। ज़फर खां ने इस नये वाद्य को सुरसिंगार नाम दिया। वाद्यों में नये-नये प्रयोग आज भी हो रहे हैं जिनसे कई नये वाद्य बन रहे हैं।

विभिन्न प्रकार के वाद्यों को चार श्रेणियों में बांटा गया है:

1- **तत् या तंत्री वाद्यः** इन वाद्यों में स्वर तारों की झंकार से पैदा होते हैं। तत् वाद्य दो तरह के होते हैं। कुछ ऐसे जिन्हें किसी वस्तु जैसे मिजराब से तार पर टंकार देकर बजाया जाता है जैसे सितार, तानपूरा, इकतारा, वीणा, सरोद। दूसरे वाद्य वो हैं जो गज को तारों पर रगड़कर बजाये जाते हैं, जैसे वायलिन, सारंगी, इसराज। मिजराब लोहे के तार की एक तिकोनी अंगूठी जैसी होती है जिसे उंगली में पहनकर तारों को छेड़ा जाता है और गज एक लंबी सी छड़ी होती है जिसमें बाल कसे जाते हैं। ये बाल घोड़े के होते हैं।

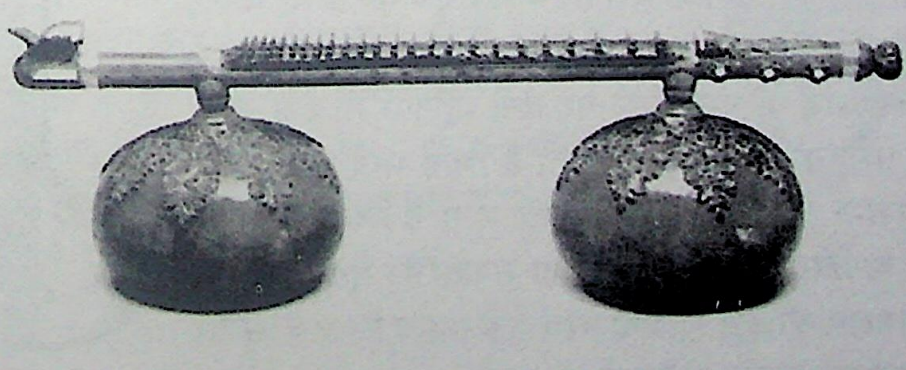
2- **सुषिर वाद्यः** ये वाद्य फूंक से पैदा होने वाली हवा से बजते हैं जैसे बांसुरी, शहनाई, नागस्वरम, शंख, हारमोनियम।

3- **अवनद्ध वाद्यः** ये वाद्य चमड़े से मढ़े हुए होते हैं। ये ताल वाद्य भी कहलाते हैं। मृदंग, पखावज, ढोलक, तबला, डमरू, खंजरी इसी श्रेणी में आते हैं।

4- **घन वाद्यः** इन वाद्यों में चोट या आघात से स्वर पैदा होते हैं जैसे जलतरंग, झांझ, मंजीरा और करताल।

कुछ तत् या तंत्री वाद्य

रुद्र वीणाः रुद्र वीणा एक प्राचीन तत् वाद्य है जो उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में बजाया जाता है। इसमें डांड या एक लंबी नली के आकार की लकड़ी के दोनों सिरों के नीचे सूखे



रुद्र वीणा

हुए कद्दू से बने दो बड़े-बड़े खोखले तूंबे होते हैं। इसमें चार मुख्य तार होते हैं, एक स्टील का और तीन तांबे के जो डांड के ऊपर खूंटियों की मदद से कसे जाते हैं।

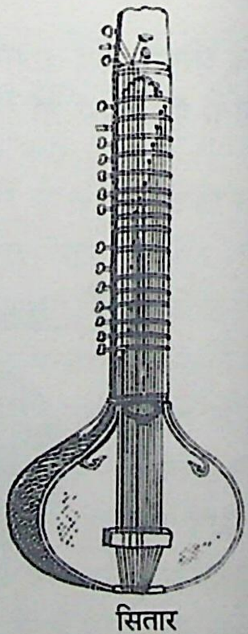
इन तारों के अलावा डांड के दोनों ओर दो तार और होते हैं। डांड पर पीतल से मढ़े लकड़ी के चौबीस परदे होते हैं। तूबों पर सुंदर नक्काशी की जाती है। डांड का निचला सिरा पक्षी के आकार का बनाया जाता है। जब तार छेड़े जाते हैं तब उनकी झंकार खोखले तूंबों के कारण गूंजती रहती है। बजाते समय रुद्र वीणा का एक तूंबा वादक के कंधे पर टिका रहता है और दूसरा तूंबा वादक अपनी गोद पर टिकाता है। दाहिने हाथ की उंगलियों में तार से बनी तिकोनी अंगूठीनुमा मिजराब पहन कर रुद्र वीणा को बजाया जाता है।

उस्ताद असद अली खां साहब रुद्रवीणा के प्रसिद्ध कलाकार थे।

विचित्र वीणाः विचित्र वीणा में पांच मुख्य तार होते हैं। इनके अलावा चिकारी के तीन तार और तरब के 11 तार और होते हैं। इसे भी मिजराब से बजाते हैं, लेकिन स्वर रोकने और बदलने के लिए शीशे या पत्थर के टुकड़े का प्रयोग बायें हाथ से करते हैं। विचित्र वीणा भी उत्तर भारतीय संगीत शैली का वाद्य है। कर्नाटक शास्त्रीय संगीत में सरस्वती वीणा का चलन है।

चित्तिबाबू और व्ही. गायत्री सरस्वती वीणा के लिए जाने जाते हैं।

सितारः सितार उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक लोकप्रिय वाद्य है। इसमें एक ही तूंबा होता है जिससे डांड को जोड़ा जाता है। सितार में पांच मुख्य तार और दो अन्य तार होते हैं जिन्हें चिकारी तार कहते हैं। इन तारों की मोटाई अलग-अलग होती है। इन तारों में 4 स्टील के और 3 पीतल के होते हैं। ये तार तूंबे की ऊपरी चपटी सतह के अंतिम सिरे से घुड़च या हाथी दांत के बने छोटे से टुकड़े पर से होते हुए डांड के दूसरे सिरे पर बनी खूंटियों में कसे जाते हैं। डांड पर धातु की 19 पट्टियां होती हैं जिन्हें परदे कहा जाता है। ये परदे रेशमी धागों से डांड पर बांधे जाते हैं जिन्हें खोलकर राग के स्वरों के हिसाब से खिसकाया जा सकता है। मुख्य तारों के नीचे 13 अन्य तार भी होते हैं जिन्हें तरबें कहा जाता है। जब सितार बजता है तो उसकी झंकार से तरबों के तारों में खुद-ब-खुद झंकार

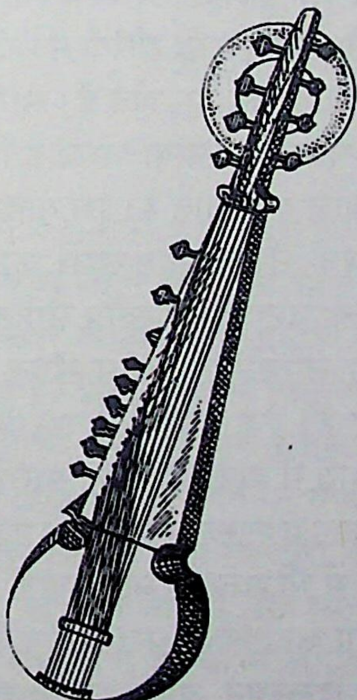


सितार

पैदा होती है। सितार भी मिजराब से बजाया जाता है और बायें हाथ की उंगलियों के पोरों से तार रोक कर स्वर बदले जाते हैं। सितार का यह रूप चित्र वीणा में बदलाव लाकर बना है।

सितार पर बजने वाली जो शैलियां आज हम सुनते हैं दो प्रसिद्ध संगीतज्ञों की देन हैं। ये संगीतज्ञ थे मसीत खां और गुलाम रज़ा। दोनों के नामों पर दो विभिन्न शैलियां बनीं। जिस शैली में सितार के बोल विलंबित लय में हों उसे मसीतखानी बाज और जिसमें द्रुत में हों उसे रज़ाखानी बाज कहा गया। मसीतखानी शैली में वादक की कल्पना का विस्तार दिखता है और रज़ाखानी शैली में जटिलता और तेजी ही उसकी विशेषता है। पंडित रविशंकर, उस्ताद विलायत खां, पं. निखिल बनर्जी, पं. देबू चौधरी, आदि सितार के जाने-माने नाम हैं।

सरोदः सरोद उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत वाद्य है। इसमें एक तूंबा, उससे जुड़ी चौड़ी डांड जो दूसरे सिरे पर पतली होती जाती है, चार मुख्य तार, चार अन्य तार और दो चिकारी तार होते हैं। इन तारों के अलावा तरब के 15 तार भी होते हैं। ये सभी तूंबे के ऊपरी सिरे से जुड़े होते हैं। तारों को दाहिने हाथ से लकड़ी के छोटे टुकड़े की मदद से बजाया जाता है और बायें हाथ की उंगलियों की पोरों और नाखूनों से तारों में स्वर पैदा करने के लिए उन्हें दबाया जाता है। सरोद में परदे नहीं होते। कहते हैं कि सरोद अफगानिस्तान के रबाब का ही सुधरा हुआ रूप है। सरोद नाम अरबी भाषा के शहरूद शब्द से बना जिसका अर्थ है संगीत।



सरोद

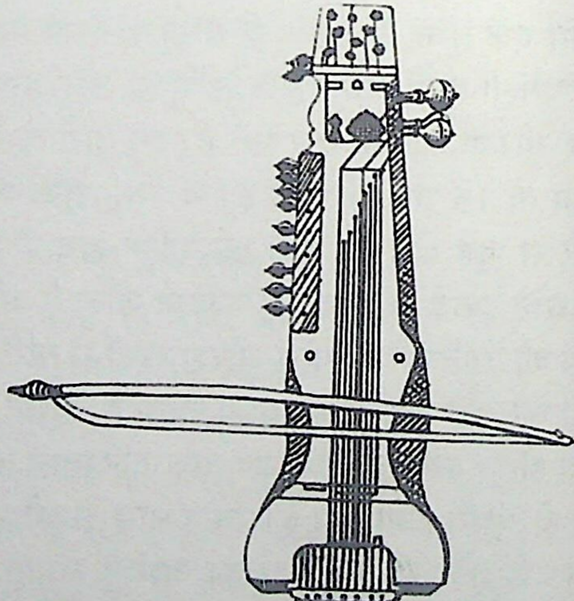
उस्ताद अली अकबर खां, उस्ताद अमजद अली खां और शरन रानी बाकलीवाल सरोद वादन के क्षेत्र में जाने-माने नाम हैं।

वायलिनः वायलिन का दूसरा नाम है बेला। यह एक विदेशी वाद्य है। गज से बजने वाला यह वाद्य भारतीय शास्त्रीय संगीत में अपना लिया गया है। हमारे देश में वायलिन जैसा

वाद्य होने के प्रमाण 10वीं शताब्दी की मूर्तियों में मिलते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि लंका महाराज रावण ने गज से बजाया जाने वाला एक तार का वाद्य बनाया था जिसे रावणास्त्रम् कहा गया। जिस वायलिन को हम आज सुनते हैं उसे अंग्रेज हमारे देश में लाए। 19वीं शताब्दी में चेन्नई के विद्वान बालूस्वामी दीक्षितार ने इसे कर्नाटक संगीत में अपनाया। आज वायलिन उत्तर भारतीय और कर्नाटक संगीत दोनों जगह अपना विशेष स्थान बना चुका है। वायलिन में कुल चार तार होते हैं। इसका तूंबा चपटा और लंबाई लिए हुए होता है। उसी से जुड़ी लकड़ी की एक पट्टीनुमा डांड होती है जिस पर तार होते हैं। एक हाथ से तार को दबाकर उंगलियों से स्वरों को रोका और बदला जाता है और दूसरे से तार पर गज चलाया जाता है।

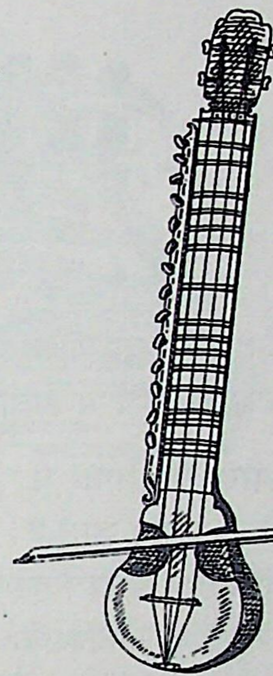
पंडित वी.जी. जोग और डा. एन. राजम वायलिन के प्रसिद्ध कलाकार हैं।

सारंगी: सारंगी उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का वाद्य है। सारंगी में विभिन्न मोटाई वाले 3 मुख्य तार होते हैं। सारंगी को गज की मदद से बजाया जाता है जिसमें घोड़े के बाल कसे जाते हैं। इस वाद्य में तारों को नाखूनों से दबा कर स्वरों को रोका और बदला जाता है। शास्त्रीय संगीत गायकों के लिए सारंगी एक उत्तम संगत वाद्य माना गया है। एक जमाने में सारंगी का चलन दरबारों में बहुत था। अब सारंगी का चलन बाकायदा शास्त्रीय संगीत में एकल वाद्य के रूप में भी होता है। बहुत पहले इसे पिनाक वीणा कहा जाता था। संगीत के कई रंगों को दिखलाने वाले इस वाद्य का नाम सौरंगी भी पड़ा जो बाद में सारंगी कहलाया।


सारंगी

अनेक सारंगी वादकों में से पं० राम नारायण और उस्ताद साबरी खां सारंगी वादन के क्षेत्र में प्रसिद्ध नाम हैं।

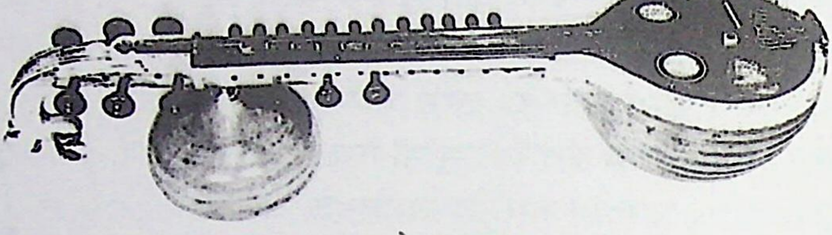
इसराजः इसराज एक तरह से सितार और सारंगी का मिला-जुला रूप है। इसका ऊपरी भाग सितार से मिलता है और नीचे का भाग सारंगी जैसा होता है। इसमें चार मुख्य तार, तरब के 15 तार और 19 परदे होते हैं। इसे भी गज से बजाया जाता है। इसराज उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के अलावा रवींद्र संगीत में भी संगत वाद्य की तरह या अकेले भी बजाया जाता है।


इसराज

दिलरुबाः दिलरुबा दिखने में इसराज जैसा ही होता है। इसमें इसराज की तरह ही एक चपटा तूंबा होता है जिस पर चमड़े की पतली झिल्ली मढ़ी होती है। दिलरुबा में 4 मुख्य तार, तरब के 20 तार और 19 परदे होते हैं। इसे गज से बजाया जाता है। ये उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का संगत वाद्य होने के साथ-साथ गुरुबानी में भी संगत के लिए बजाया जाता है।

तानपूरा या तंबूराः कर्नाटक और उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत दोनों में ही तानपूरा गायक और वादक के लिए आधार स्वर पैदा करने के लिए प्रयोग किया जाता है। किसी भी तरह के शास्त्रीय संगीत में तानूपरे का प्रयोग जरूरी है। इसमें स्टील के तीन और पीतल का एक तार होता है। तानपूरे को सीधा खड़ा करके बजाया जाता है। इस स्थिति में तूंबा नीचे जमीन पर या गोद में रहता है और डांड कंधे से टिकी रहती है। वैसे कुछ लोग तानपूरे को लिटाकर भी बजाते हैं, लेकिन माना जाता है कि तानूपरा खड़ा करके बजाने पर गायक के कानों में आधार स्वर लगातार गूंजता रहता है। अधिकतर गायक स्वयं तानपूरा नहीं छेड़ते हैं क्योंकि दोनों हाथ खाली रहने पर वह अपने भावों को और अच्छी तरह व्यक्त कर पाते हैं। तारों को गायन या वादन के दौरान तर्जनी और मध्यमा उंगलियों से लगातार छेड़ा जाता है। चारों तार एक साथ नहीं बल्कि अलग-अलग छेड़े जाते हैं।

गोट्टुवाद्यम्ः एक बड़ा गोल तूंबा और एक छोटा तूंबा, स्टील के चार तार, एक सिरे पर घुमावदार डांड जिसके अंत में तार खूंटियों पर कसे जाते हैं, गोट्टुवाद्यम के मुख्य अंग हैं। छोटा तूंबा डांड के घुमावदार सिरे पर लगा होता है। बांस के चपटे टुकड़े से जिसे कोट्टु



गोट्टुवाद्यम्

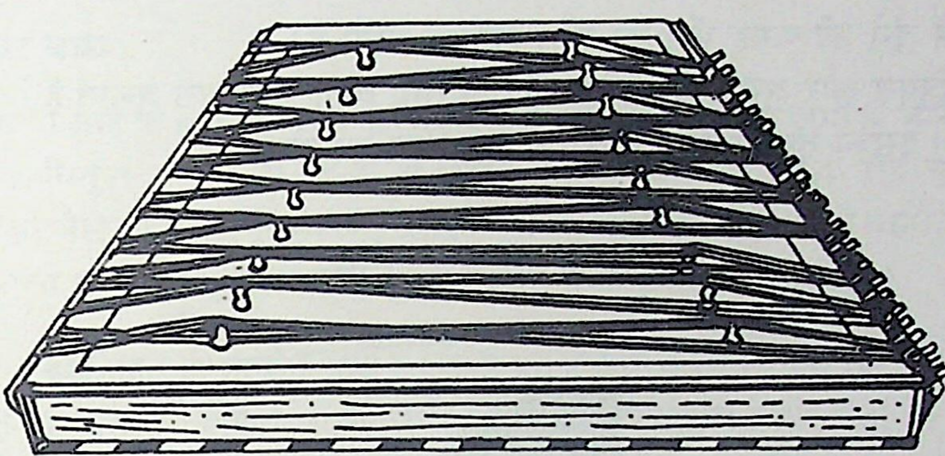
कहते हैं इसके तारों को छेड़ा जाता है। वैसे तो यह तत् वाद्य है, लेकिन प्रयोग अधिकतर ताल वाद्य के रूप में होता है। गोट्टुवाद्यम् दक्षिण भारत का एक दुर्लभ वाद्य है।

सुरसिंगारः सुरसिंगार में गूंज पैदा करने के लिए एक बड़ा तूंबा और डांड लकड़ी के एक ही लट्ठे से बनाए जाते हैं। 6 मुख्य तार और दो अन्य तार हाथी दांत के एक चपटे टुकड़े यानी घुड़च पर से होते हुए डांड के दूसरे सिरे तक कसे जाते हैं। यह सिरा घुमावदार होता है और पक्षी के आकार का बनाया जाता है। तूंबे को बहुत पतली लकड़ी से ढंका जाता है। एक छोटा तूंबा डांड के घुमावदार सिरे और डांड की निचली सतह पर लगाया जाता है। मिजराब से बजाया जाने वाला यह वाद्य उत्तर भारतीय संगीत में प्रयोग किया जाता है।

सुरबहारः सुरबहार की बाहरी बनावट सुरसिंगार से मिलती-जुलती है। इसमें 4 मुख्य तार, 3 अन्य तार, और तरब के 11 स्टील के बने तार होते हैं। सुरबहार में 19 परदे होते हैं जिन्हें डांड पर रेशमी धागों से बांधा जाता है। सुरबहार भी उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का वाद्य है।

संतूरः संतूर जम्मू और कश्मीर का वाद्य है। यह मुख्यतः कश्मीर के पारंपरिक संगीत सूफीयाना कलाम प्रस्तुत करते समय बजाया जाता है, लेकिन अब इसे शास्त्रीय संगीत का वाद्य भी माना जाने लगा है। इसमें लकड़ी की छोटी-छोटी चपटी छड़ियों से तारों में झंकार पैदा की जाती है। ये तार लकड़ी के चपटे और खोखले बक्से की ऊपरी सतह पर लगाए जाते हैं। पहले कभी सौ तारों वाली वीणा हुआ करती थी जिसे सत तंत्री वीणा कहा जाता था। कहते हैं कि इसी में बदलाव लाकर इसे संतूर का रूप दिया गया। संतूर वादकों में पं. शिवकुमार शर्मा, पं. भजन सोपोरी प्रसिद्ध हैं।

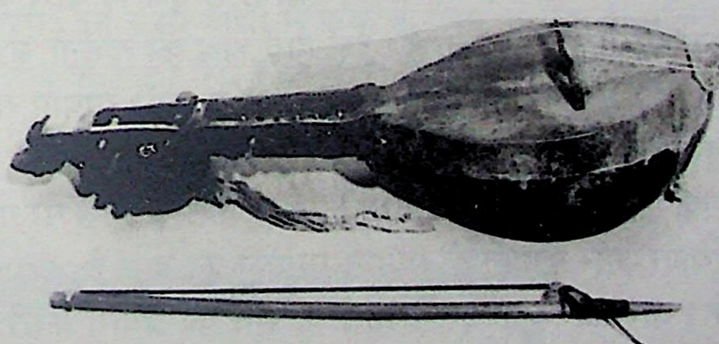
राजस्थान के जोगी संप्रदाय के लोगों में जोगी सारंगी और धानी सारंगी चलन में



संतूर

है। जोगी सारंगी उत्तर प्रदेश के लोक संगीत का भी संगत वाद्य है। इसे बजाते समय या तो कंधे पर टांग कर रखते हैं या फिर गोद में रखते हैं। पश्चिमी राजस्थान के लंगा संप्रदाय के लोग लोक संगीत और नृत्य में सिंधी सारंगी और गुजरातन सारंगी बजाते हैं। शीशम की लकड़ी से बने गज से बजाया जाने वाला कामायचा नाम का वाद्य राजस्थान के मांगनियार संप्रदाय का लोक वाद्य है।

रावणहाथ राजस्थान के भोपा संप्रदाय और गुजरात के लोक संगीत का संगत वाद्य है। रावणहाथ में एक बहुत ही छोटा तूंबा होता है जिसे नारियल के खप्पर से बनाया जाता है। भोपा लोग पाबूजी-की-फड़ नाम की पारंपरिक गाथा गाते समय रावणहाथ बजाते हैं। मध्य प्रदेश के प्रधान संप्रदाय के लोग दो छोटे-छोटे तूंबों वाला एक वाद्य बजाते हैं जिसे जंतर कहते हैं।

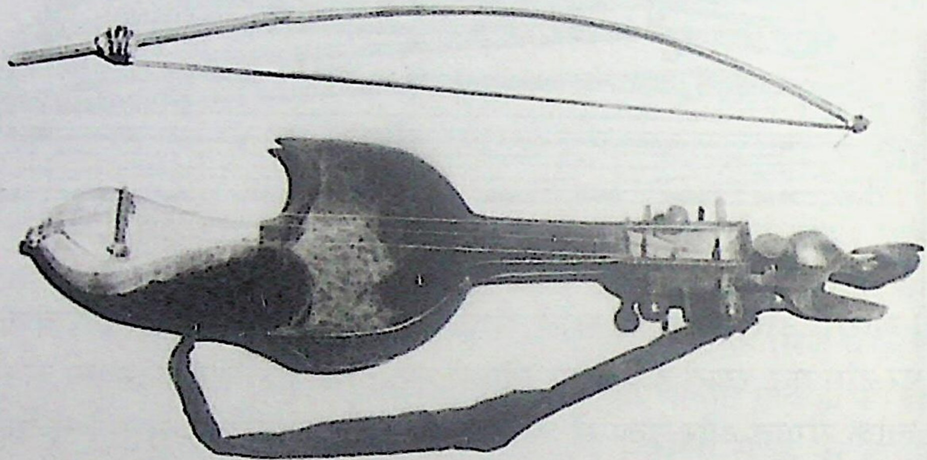


कामायचा

उड़ीसा में घोड़े के बालों के गुच्छे को बंटकर बनाये गये तार को एक बांस के टुकड़े पर कसते हैं जिसके एक सिरे पर नारियल के खप्पर का तूंबा लगाया जाता है। इस वाद्य को जोगीकेंद्र कहते हैं। मयूरभंज के माझी आदिवासी ऐसा ही वाद्य माझीकेंद्र प्रयोग में लाते

हैं जिसमें तूंबे की जगह भैंस का सींग लगाया जाता है।

त्रिपुरा और असम के आदिवासी तीन तारों वाला एक वाद्य बजाते हैं जिसे सारिंदा कहते हैं। इसका तूंबा नाशपाती का आकार लिए हुए होता है।



सारिंदा

नारद मुनि से लेकर मीराबाई तक का प्रिय वाद्य इकतारा ही था। इकतारा कई प्रांतों में प्रयोग में लाया जाता है। एक छोटे तूंबे में बांस की छड़ डालकर इकतारा बनता है जिसमें एक तार होता है। इसे दायें हाथ की तर्जनी से बजाया जाता है। असम के कामरूप और ग्वालपाड़ा इलाकों में लोकगीत और गाथाएं गाते समय दोतारा बजाया जाता है। इसमें दो नहीं बल्कि चार तार होते हैं। यह एक पतली नली के आकार का होता है जिसके एक सिरे पर कटोरेनुमा तूंबा लगाया जाता है जिस पर गोह की खाल मढ़ी जाती है। गबगुबी बिहार और बंगाल के बाऊल गायकों का वाद्य है। इस वाद्य का तूंबा टीन से बनाया जाता है। तार की जगह इसमें तांत या सूत का प्रयोग करते हैं। तूंबे को बाईं बगल में दबाकर इसे बजाया जाता है।

पुल्लवान कुडम मालाबार के पुल्लवान संप्रदाय का लोक वाद्य है। पुल्लवान सांपों को पूजने वाली एक जनजाति है। पुल्लवान कुडम में भी एक तार होता है जिसे लकड़ी के टुकड़े से बजाते हैं। तत् वाद्य होते हुए भी यह ताल वाद्य के रूप में प्रयोग किया जाता है।

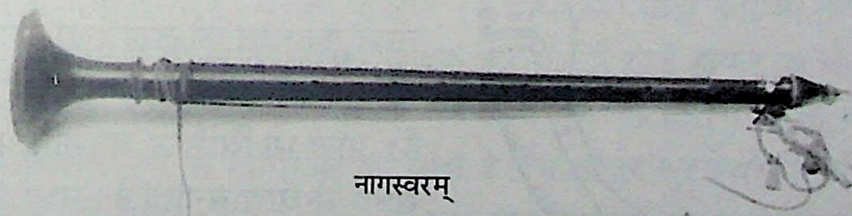
कुछ सुषिर वाद्य

सुषिर वाद्य दो तरह के होते हैं। पहले वे जिनमें कोई भी बाहरी वस्तु न लगी हो जैसे बांसुरी, शंख, सींग, बिगुल और तुरही। दूसरे वे जिनमें एक नली में एक या दो रीड या पत्तियां लगाई गई हों जैसे शहनाई, नागस्वरम्, आदि। विभिन्न सुषिर वाद्यों से कैसी ध्वनि निकलेगी यह उस नली पर निर्भर करता है जिससे होकर हवा बाहर निकलती है।

बांसुरीः बांसुरी बहुत ही प्राचीन वाद्य है। बांस का एक सिरा तराश कर उसे नुकीला और चपटा बनाया जाता है। दिखने में यह सिरा किसी पक्षी की चोंच जैसा होता है। इस सिरे में एक छोटा, पतला और लंबा छेद बनाया जाता है। इसके ठीक नीचे फूंकने के लिए एक छेद और थोड़ी-थोड़ी दूरी पर 6 अन्य गोल छेद किये जाते हैं। उंगलियों से छेदों को अलग-अलग तरीके से बंद करने और चोंचीले सिरे से फूंक मारने पर स्वर निकलते हैं। बांसुरी अपने सामने सीधे रखकर भी बजाई जाती है और दायें कंधे की ओर तिरछी रख कर भी बजाई जाती है। बांसुरी कई प्रांतों में लोक जीवन में प्रचलित है, लेकिन शास्त्रीय संगीत में भी बांसुरी ने पूरे विश्व में अपनी खास जगह बना ली है।

स्वर्गीय पंडित पन्ना लाल घोष, पंडित हरिप्रसाद चौरसिया बांसुरी वादन में जाने-माने नाम हैं।

शहनाई, सुरनाई, सुंदरी, नागस्वरम्ः इन सभी वाद्यों में फूंक के लिए दो रीड या पत्तियां होती हैं जिनमें कंपन पैदा होता है। रीड के संकरे सिरे लकड़ी की एक छोटी नली में बिठाये जाते हैं और यह हिस्सा लकड़ी की लंबी नली से जुड़ता है जो धीरे-धीरे चौड़ी होती जाती



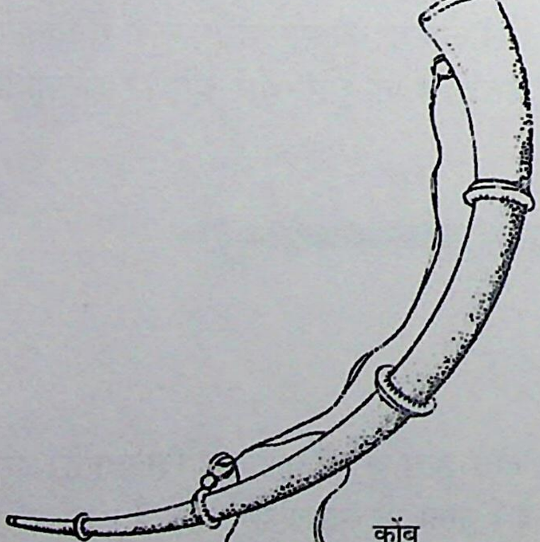
नागस्वरम्

है। लकड़ी की इस नली का अंतिम सिरा चौड़ा होते-होते कुप्पी की तरह दिखता है। इस सिरे पर धातु की घंटीनुमा कुप्पी लगाई जाती है। नली पर गोल छेद होते हैं। इन छेदों से जब हवा निकलती है तब स्वर पैदा होते हैं। ये सभी वाद्य मुख्य रूप से जुलूसों, धार्मिक

समारोहों, त्योहारों और मंदिरों में बजाये जाते हैं। उत्तर भारत में शुभ अवसरों पर शहनाई और दक्षिण भारत में नागस्वरम् वादन प्रचलित है। नागस्वरम् की प्राचीनता का उल्लेख 14 वीं शताब्दी में मिलता है। शहनाई को मध्य एशियाई लोग भारत लाए। कहा जाता है कि शहनाई का पहला रूप सुरनाई था। सुंदरी, सुरनाई और शहनाई उत्तर भारत के वाद्य हैं जबकि नागस्वरम् दक्षिण भारत का वाद्य है। मंदिरों और शुभ अवसरों पर बजाये जाने वाले ये वाद्य पिछले कई वर्षों से शास्त्रीय संगीत वाद्यों के रूप में प्रचलित हो गये हैं। शास्त्रीय संगीत के लायक बनाने के लिए इन वाद्यों में कारीगरों और कलाकारों ने अपने-अपने हिसाब से परिवर्तन किये।

उस्ताद बिस्मिल्लाह खां और पंडित अनन्तलाल प्रसिद्ध शहनाई वादकों के नाम हैं। टी.एन. राजरत्नम पिल्लै, कराई कुरची अरुणाचलम, टी.एस. नटराजसुंदरम् पिल्लै नागस्वरम् वादन के लिए जाने जाते हैं।

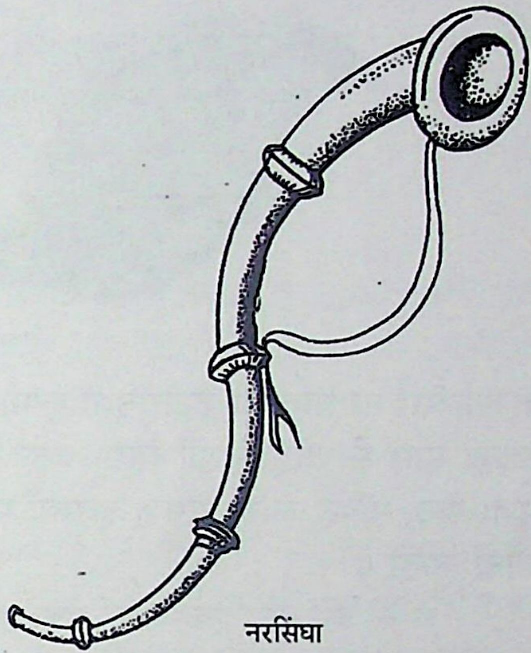
हारमोनियमः हवा से सुर पैदा करने वाला हारमोनियाम इन सबसे अलग है। एक पेटी में हवा भरने के लिए धौंकनी, रीड और परदों वाला यह वाद्य भारत में आया तो विदेश से लेकिन अब यहीं का हो गया है। हारमोनियम में हवा रीडों को केवल धक्का लगाती है। जो आवाज हम सुनते हैं वह पेटी के अंदर लगी धातु की पत्तियों के टकराने से पैदा होती है। शास्त्रीय संगीत में हारमोनियम का एक विशिष्ट स्थान है क्योंकि स्वरों को साधने के लिए आरंभिक अवस्था में गायक इसकी ही मदद लेते हैं।


कोंबु

लोक संगीत में एक जमाने से जानवरों के सींगों, सूखी और खोखली हड्डियों, बांस और शंखों को वाद्य की तरह देखा गया। संस्कृत में सींग को श्रृंग और द्रविड़ भाषाओं में कोंबु कहते हैं। आज भी विभिन्न जनजातियां जानवरों के सींगों से वाद्य बनाती हैं। मध्य प्रदेश के भील यदि इन्हें सींगे कहते हैं तो उसी प्रांत के मड़िया जनजाति के लोग इन्हें कोहुक कहते हैं। उत्तर पूर्व में अंगमी नगा भैंस के आधे मीटर लंबे सींग से वाद्य बनाते हैं। इस वाद्य को रेली-की

कहते हैं। ओडिसा, उत्तर प्रदेश और बिहार में भी आदिवासी भैंस या हिरन के सींगों से वाद्य बनाते हैं जिन्हे सिंगा, सिंघा, सींगी आदि नाम दिये गये हैं।

एक अन्य लोक वाद्य तुरही भारत के कई प्रांतों में प्रचलित है। तुरही दिखने में अंग्रेजी के एस या सी अक्षर की तरह होती है। भारत के विभिन्न प्रांतों में पीतल या कांसे से बना यह वाद्य अलग-अलग नामों से जाना जाता है। धातु की नली को घुमाकर एस का आकार इस तरह दिया जाता है जिसमें उसका एक सिरा संकरा रहे और दूसरा सिरा घंटीनुमा चौड़ा रहे। फूंक मारने के लिए एक छोटी नली अलग से जोड़ी जाती है। राजस्थान में इसे बर्गू कहते हैं, उत्तर प्रदेश में तूरी, मध्य प्रदेश और गुजरात में रणसिंघा और हिमाचल प्रदेश में इसे नरसिंघा कहा जाता है। इसे राजस्थान और गुजरात में काकड़सिंघी भी कहते हैं।


नरसिंघा

ये तो हुईं घुमावदार तुरहियां। धातु से बनी सीधी तुरहियां भी प्रचलित लोक वाद्य हैं। इनके कई नाम हैं: महाराष्ट्र में भुंगल, हिमाचल प्रदेश और ओडिसा में कहल, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में कर्णा तथा तुरही। बिहार की ओरांव जनजाति इसे भेन्न कहती है।

लद्दाख की तुरही बहुत लंबी होती है यानी लगभग 3 मीटर लंबी। तरह-तरह के सुंदर छल्लों से इसे सजाया जाता है। बजाने के लिए इसे हाथों से पकड़ा नहीं जा सकता इसलिए इसे जमीन पर किसी ऊंची जगह रखकर वादक को या तो खड़े होकर या बैठकर बजाना पड़ता है। लद्दाख की इस तुरही का नाम है थुनचेन। थुनचेन हमेशा जोड़ी में ही बजायी जाती है। यह विशेष रूप से लामाओं का वाद्य है। जोड़ीदार तुरहियों में तमिलनाडु की तिरुचिन्नम नाम की तुरही भी है। पीतल से बनी यह तुरहियां बहुत ही पतली और लंबी होती हैं।

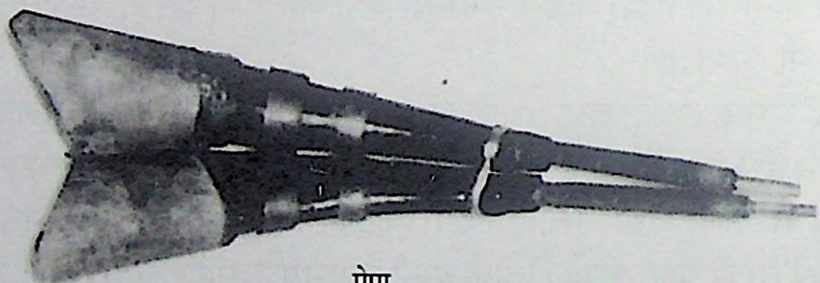
सबसे अधिक प्राचीन सुषिर वाद्य है शंख जिसे बनाने की जरूरत नहीं पड़ती। समुद्र के तटों पर लहरें इस प्राकृतिक सुषिर वाद्य को लाकर छोड़ देती हैं। तमिलनाडु में इन शंखों



देवालई संगु

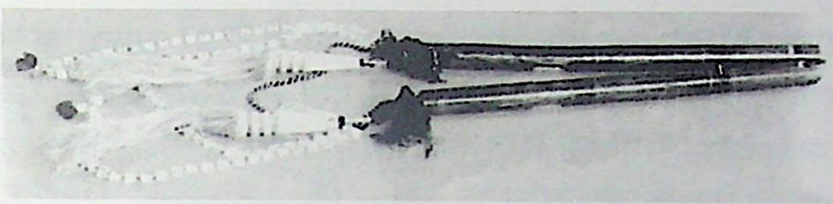
के एक सिरे पर धातु की कटोरीनुमा कुप्पी और दूसरे सिरे पर कांसे से बना सुंदर कलात्मक टुकड़ा मोम से जोड़कर जो वाद्य तैयार किया जाता है उसे देवालई संगु कहते हैं। शंख पूजा-पाठ, मंदिरों और धार्मिक उत्सवों में बजाए जाते हैं और इनकी ध्वनि बहुत ही शुभ मानी जाती है।

सपेरों की बीन एक और लोक वाद्य है। इसे पुंगी भी कहते हैं। पुंगी जैसा ही वाद्य तारपू गुजरात के समूह नृत्यों में और असम में एक पत्ती वाला वाद्य पेपा बिहू और वसंतोत्सव में बजाया जाता है। पेपा में भैंस के दो सींग आवाज को गुंजाने के लिए लगाए जाते हैं।



पेपा

सादी बांसुरी में अपने वातावरण, संस्कृति और जरूरत के अनुसार तरह-तरह के परिवर्तन करके विभिन्न संप्रदाय कई प्रकार के वाद्य बनाते हैं। पश्चिमी त्रिपुरा की जनजातियों की बांसुरी में सात छेद होते हैं और इसके दोनों सिरे खुले होते हैं। इसे वह मुरारी सुमुई कहते हैं। उसी जगह आंध्र प्रदेश की चेंचू जनजाति अपनी बांसुरी में घास से बनी एक रीड या पत्ती लगाते हैं, इसे चेंचू खर्रा कहा जाता है। ओडिसा और मध्य प्रदेश में शहनाई जैसा वाद्य खोखली लकड़ी में दो रीड लगाकर बनता है। इसमें आगे की ओर धातु की घंटीनुमा कुप्पी लगी रहती है। यह वाद्य महुरी या मोहुरी के नाम से जाना जाता है। उत्तरांचल



अलगोजा

के कुमाऊं और गढ़वाल क्षेत्रों और राजस्थान में दो बांसुरियों को जोड़ कर अलगोजा नाम का वाद्य बनता है। गुजरात के गड़रिये भी बांसुरियों को धातु के टुकड़े से जोड़ कर वेणु बनाते हैं।

कुछ अवनद्ध वाद्य

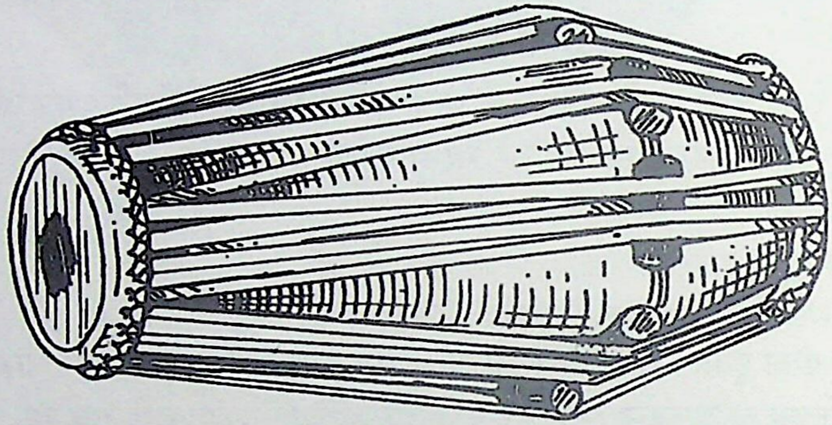
अवनद्ध यानी ढंका हुआ। सभी अवनद्ध वाद्य चमड़े से ढंके जाते हैं। मिट्टी, धातु या फिर लकड़ी से बने हुए बरतननुमा पात्र पर जब चमड़ा चढ़ाया जाता है तब यह पात्र वाद्य का रूप ले लता है। सभी अवनद्ध वाद्य ताल वाद्य हैं। इनके विभिन्न आकार प्रकार होते हैं: छोटे, बड़े, गोल, चपटे, लंबे, सुराहीनुमा, कुल्हड़नुमा, गगरी और घड़े जैसे भी। ये अधिकतर एकमुखी और द्विमुखी होते हैं। मुख वह सतह है जो चमड़े से ढंकी रहती है।

तबलाः तबला शब्द फारसी के तब्ल से बना है। इसका अर्थ है नक्कारा। तबले की जोड़ी होती है। एक को कहते हैं तबला या दायां और दूसरे को डुग्गी, डग्गा या बायां। दायां नीचे चौड़ा और ऊपर संकरा होता है। बायां दांयें तबले से कुछ छोटा होता है और अधिक गोल दिखता है।

दायां लकड़ी से और बायां मिट्टी या धातु से बनता है। इन दोनों के मुंह पर चमड़ा मढ़ा होता है जिसे पुड़ी कहते हैं। पुड़ी के किनारे-किनारे चमड़े की गोट लगाई जाती है जो चांटी कहलाती है। दायें तबले के बीच में और बांयें में बीच से थोड़ा हटकर स्याही लगाई जाती है। स्याही काले रंग का लेप होता है। दायें और बायें के चमड़े को चमड़े की ही डोरियों से कसा जाता है। दोनों को हाथों से बजाया जाता है, फर्क केवल इतना होता है कि दायें तबले पर उंगलियों से और बायें पर उंगली और हथेली से चोट की जाती है।

कंठे महाराज, अहमद जान थिरकवा, करामतुल्ला खां, किशन महाराज, अल्ला रक्खा, पं. शंकर घोष, सामता प्रसाद, ज़ाकिर हुसैन, आदि के नाम तबला वादन के क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं।

पखावजः पखावज की बनावट एक लंबे बेलन जैसी होती है। लकड़ी के एक लट्ठे को खोखला करके बनाए गये पखावज को ध्यान से देखें तो ऐसा लगता है कि दायें तबले और डुग्गी को एक-दूसरे से मिला दिया गया है। पखावज में तबले के मुकाबले अधिक

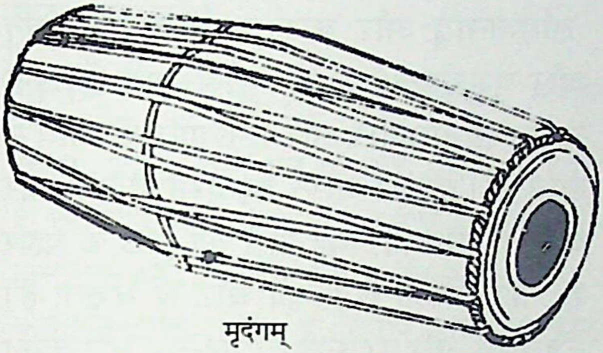


पखावज

गूंज निकलती है। पखावज को बजाने में हथेली की थाप का अधिक महत्व होता है। बजाने से पहले पखावज में बायीं ओर गीला आटा लगाते हैं। स्वर ऊंचा करना हो तो कम आटा और नीचा करना हो तो अधिक आटा लगाया जाता है जिसे बजाने के तुरंत बाद निकाल देते हैं। इसमें दायीं ओर काला लेप या स्याही लगाई जाती है। पखावज का महत्व जहां ध्रुपद और धमार गायकी में अधिक है, वहीं तबला खयाल गायकी, सितार, आदि के लिए महत्वपूर्ण ताल वाद्य है।

पं. रामाशीष पाठक एक जाने माने पखावज वादक हैं।

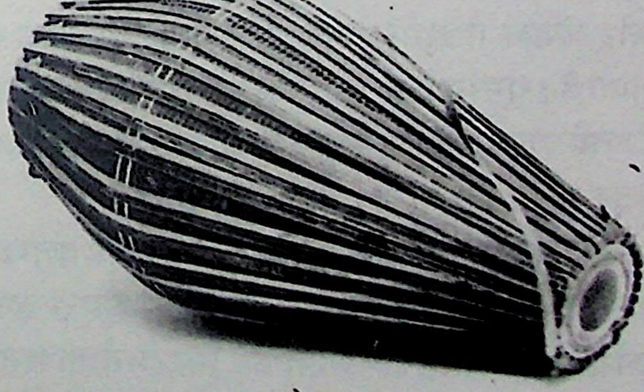
मृदंगम्ः मृदंगम् कर्नाटक संगीत में महत्वपूर्ण ताल वाद्य है। मृदंगम् की बनावट भी बेलनाकार होती है, लेकिन इसके दोनों सिरे बीच के भाग के मुकाबले संकरे होते जाते हैं। पखावज की तरह इन सिरों या मुंहों पर चमड़ा मढ़ा जाता है जिसे चमड़े की डोरियों से कसते हैं। पखावज की तरह ही इसमें भी दायें मुख पर काली स्याही और बायें पर गीला आटा लगाया जाता है। मृदंगम् आकार में पखावज से कुछ छोटा होता है। दरअसल, आज जब हम मृदंग की बात करते हैं तो दक्षिण भारत के मृदंगम् और उत्तर भारत के पखावज दोनों को ही समेट लेते हैं। मृदंग को प्राचीन काल में पुष्कर कहते थे। प्राचीन पुष्कर कई प्रकार के होते

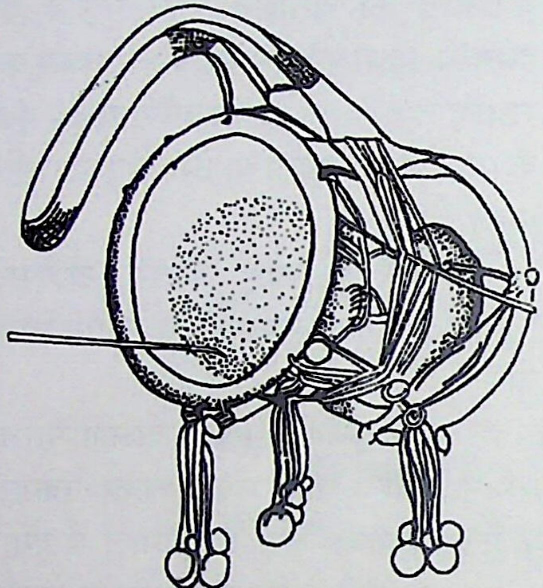

मृदंगम्

थे। हरड़ की बनावट वाले पुष्कर को हरीतकी, जवा की बनावट वाले पुष्कर को जवाकृति और वह पुष्कर जो गाय की पूंछ के गुच्छे जैसा दिखता था उसे गोपुच्छाकृति कहते थे।

तंजौर वैद्यनाथ अय्यर, टी.एस. पालघाट मणि अय्यर मृदंगम् के परिचित नाम हैं।

ढोलक आमतौर पर शादी-ब्याह में लगभग हर घर में बजती है। चेंडा दक्षिण भारत का ऐसा ही एक वाद्य है लेकिन इसे हथेली की थाप से नहीं बल्कि कमर में लटकाकर लकड़ी की दो छड़ियों से कथकली नृत्य में संगत देने के लिए बजाया जाता है। बंगाल में दुर्गा पूजा समारोह के दौरान ढाक बजाने का चलन है। इसे एक कंधे से तिरछा लटकाया जाता है और केवल एक ओर से ही दो छड़ियों से बजाया जाता है। खोल भी बंगाल का ही वाद्य है जिसे कीर्तन, भजन और बाउल संगीत में बजाते हैं। मिट्टी से बने खोल का दाहिना भाग बायें के मुकाबले काफी संकरा होता है इसलिए इसका दाहिना मुख भी छोटा होता है। दायें मुख पर काली स्याही जबकि बायें पर मिट्टी और चावल की भूसी का लेप लगाया जाता है। खोल से बहुत कुछ मिलता-जुलता है मणिपुर का पुंग। पुंग को कपड़े में ढककर रखने की प्रथा है। त्रिपुरा और आसपास के क्षेत्रों में समूह नृत्यों और लोक गीतों में खम बजाया जाता है। मदल, मर्दल और मुरज भी मिलते-जुलते द्विमुखी अवनद्ध वाद्य हैं। चेंडा को छोड़कर इन सभी वाद्यों का बीच का हिस्सा उभरा हुआ होता है। कर्नाटक में करडी वाद्य में भी बीच का भाग उभार लिए हुए होता है। दोनों मुखों पर चमड़ा लोहे के छल्लों और सूत की पतली रस्सियों से कसा जाता है।


खोल



एडक्का

तमिलनाडु और कर्नाटक के बुडाबुक्कलु और बुडुबुडुकई डमरू जैसे वाद्य हैं। इन्हें सपेरे, खानाबदोश और जनजातियां प्रयोग में लाती हैं। दक्षिण भारत का ऐसा ही एक और वाद्य है डाक्की। यह सूत की गांठ के प्रहार से नहीं बल्कि छड़ी की चोट से बजता है। उडुक्कई और एडक्का तमिलनाडु और केरल के वाद्य हैं। उडुक्कई पीतल से बनाया जाता है और इसे एक हाथ में पकड़कर दूसरे हाथ से बजाते हैं। उडुक्कई लोक गीतों का संगत वाद्य है वहीं केरल का एडक्का कथकली और मोहिनीअट्टम का संगत वाद्य है।

सभी ढोल तले से संकरे और ऊपर चौड़े होते जाते हैं और इनकी ऊपरी सतह सपाट होती है। इसी पर चमड़ा मढ़ते हैं। दिखने में एक बहुत बड़े प्याले की तरह होते हैं। मेघालय और आसपास के इलाकों में इसे बोम कहा जाता है। बोम बहुत ही मुलायम लकड़ी को तराश कर बनता है और इसे दो गद्दीदार छड़ियों से बजाते हैं। पुराने जमाने की दुंदुभि ही आज का नगाड़ा है। नगाड़ा या नक्कारा आकार में काफी बड़ा होता है। इसे लकड़ी के बजाय लोहे की पट्टियों को जोड़कर बनाते हैं। उत्तर भारत में नगाड़े का चलन खेल तमाशे, मेले, नौटंकी, आदि में है। असम में ढोल यदि छड़ी और दायें हाथ की उंगलियों से बिहू उत्सव में बजाया जाता है तो धुमसा ओडिसा और बंगाल में सराईकेल्ला और पुरुलिया छाऊ नृत्य में दो छड़ियों की मदद से बजाया जाता है। धुमसा लोहे की पट्टियों को जोड़कर बनता है लेकिन ढोल को लकड़ी से बनाते हैं। तमिलनाडु के तमुक्कू जैसे ही छोटे ढोल हैं महाराष्ट्र का संबल, कर्नाटक का ताशे और उत्तर भारत का ताशा।

ओडिसा का तुमकी विशेष रूप से दलखई नृत्य में और घुमेरा घुमेरानौचा नृत्य में बजाया जाता है। घुमेरा ओडिसा की घूमरा जनजाति का वाद्य है। तुमकी, घूमट, और घुमेरा मिट्टी से बनाये जाते हैं। मिट्टी से ही बनने वाले वाद्यों में केरल का मिझावु भी है जो नांबियार समुदाय कुडियट्टम नृत्य के समय बजाता है।

कुछ घन वाद्य

मोरछंग, श्रीमंडल, कंजीरा, चिमटा, मंजीरा, आदि प्रचलित घन वाद्य हैं।

घटम्: घटम् यानी घट या घड़ा। मटकी, गगरी, नूत, मिट्टी से बनने वाले साधारण बरतन हैं जो प्रचलित लोक ताल वाद्य हैं। लेकिन घटम् का शास्त्रीय संगीत में बहुत महत्व है। कर्नाटक संगीत की लगभग हर सभा और आयोजन में घटम् मृदंगम् के साथ ताल देने के लिए बजाया जाता है। घटम् साधारण मिट्टी से नहीं बनता। मिट्टी में धातु का चूरा या बहुत छोटे कण मिला कर, अच्छी तरह गूंथकर घटम् को रूप दिया जाता है। ऐसा करने से एक तो पात्र में मजबूती आती है दूसरे उसकी आवाज अधिक जोरदार निकलती है। घटम् वादक घटम् को बजाते समय उसे गोद में रख कर उसका मुंह अपने पेट से लगाकर रखता है जिससे घटम् का मुंह बंद रह सके। वादक अपने पेट को हिला-डुलाकर घटम् से अलग-अलग प्रकार की ध्वनियां निकालता है। ऐसी स्थिति में जब वादक की उंगलियां घटम् पर चलती हैं तो गूंज और टनकार पैदा होती है।


घटम्

बंगलौर के. वेंकटरामन और टी. एच. विनायकर घटम् के जाने-पहचाने नाम हैं।

जलतरंग: जल तरंग भी एक घन वाद्य है जिस पर शास्त्रीय संगीत प्रयोग के तौर पर बजाया जा सकता है, हालांकि जलतरंग शास्त्रीय संगीत में बहुत प्रचलित नहीं है। चीनी मिट्टी के कई आकार के प्यालों में पानी भरकर उन्हें आधा गोला बनाते हुए वादक अपने सामने रखता है। प्यालों का आकार और उनमें पानी की मात्रा स्वर और सप्तक निर्धारित करते हैं। बांस की छड़ी से जब प्यालों की किनारी पर चोट की जाती है तो मधुर आवाज पैदा होती है।

अधिकतर घन वाद्यों में मधुर स्वर, सुरीलेपन की गुंजाइश कम ही होती है। ये वाद्य ताल देने के काम में लाये जा सकते हैं वह भी एक सीमा के अंदर। राग या शास्त्रीय संगीत में जो शुद्धता होनी चाहिए वह तमाम घन वाद्यों से नहीं मिल सकती। इसलिए असम का बोरताल, मध्य भारत का चटकुला, कर्नाटक का चिट्टिका, ओडिसा का दशकाठी और उत्तर



जलतरंग

भारत के झांझ-मंजीरे, आदि लोकसंगीत और भजन-कीर्तन आदि में ही प्रयोग में लाये जाते हैं।

6

हिंदुस्तानी संगीतः घराने और कलाकार

संस्कृत भाषा के गृह से हिंदी में घर शब्द-बना और घर से घराना। घराना घर की परंपरा है। आमतौर पर हम घराना शब्द का प्रयोग परिवार की परंपरा के लिए करते हैं लेकिन शास्त्रीय संगीत में घराना अलग मायने रखता है जहां इस शब्द का काफी हद तक मतलब होता है संगीत गायन या वादन की शैली।

एक समय था जब शास्त्रीय संगीत संगीतज्ञों के परिवारों तक ही रहता था। पिता से बेटे को और बेटे से उसके बेटे को संगीत पारंपरिक विरासत के रूप में मिलता था। बहुत कम ऐसे लोग थे जो संगीत सीखने के लिए गुरुओं की शरण में जाते थे। ऐसा शायद इसलिए होता था क्योंकि शास्त्रीय संगीत को दरबारों और रजवाड़ों की चीज समझा जाता था। आम लोग संगीत-नृत्य को भला काम नहीं मानते थे। धीरे-धीरे समय बदला और समय के साथ लोगों की समझ भी बदली। लोगों में शास्त्रीय संगीत सीखने की इच्छा पैदा हुई। जो शिष्य गुरुओं और उस्तादों से संगीत सीखते थे वे बाकायदा अपने गुरुओं के घर में परिवार के सदस्य की तरह रहते थे। गुरु की सेवा करते थे और प्रसाद के रूप में संगीत की शिक्षा पाते थे।

इस तरह हर संगीतज्ञ अपनी कला और विद्या को अपनी संतानों और शिष्यों को सिखाकर उसे कई पीढ़ियों तक जीवित रखता था। संगीत सीखने और सिखाने के नियम भी बहुत कठोर हुआ करते थे। बहुत छोटी उम्र से ही संगीत सिखाया जाता था। गुरुओं की नजर इतनी पैनी होती थी कि वे एक बार में ही शिष्य की सुर, ताल और लय की समझ को भांप लेते थे। जिसे योग्य पाते उसे पूरी लगन और मेहनत से अपनी विद्या सौंपते थे। सीना-ब-सीना यानी आमने-सामने बैठकर संगीत सीखने का चलन था, जिसमें शिष्य न सिर्फ गुरु से संगीत बल्कि हाव-भाव और दूसरे तौर-तरीके भी सीखता था। मेहनत, लगन और अनुशासन में रहने वाले शिष्य ही गुरु कृपा के पात्र बनते थे। सुबह हो या



हीराबाई बारोडकर

रात घंटों अभ्यास या रियाज करना पड़ता था।

पुराने समय में गायक लोग जोरदार और खुली आवाज पर जोर देते थे। आवाज खुली हुई हो इसके लिए बैठने का तरीका सही होना चाहिए। सीधे बैठने से हमारे फेफड़ों में हवा के लिए पूरी जगह मिलती है, जिससे सांस पर नियंत्रण रहता है। आवाज को बुलंद बनाने और साधने के लिए यह बहुत जरूरी है। इस तरह की अनेक बातें उस्ताद शिष्यों को बातों-बातों में ही सिखा देते थे। उन दिनों का एक किस्सा है जब माइक्रोफोन का चलन नहीं था। 1946 में जालंधर में एक संगीत सम्मेलन का आयोजन किया गया था। किराना घराने की प्रसिद्ध गायिका हीराबाई बारोडकर के गायन का कार्यक्रम था। पंडाल खचाखच भरा हुआ था। कोई हजार-दो हजार श्रोता रहे होंगे। लेकिन हीराबाई की जोरदार आवाज का क्या कहना, अंतिम पंक्ति में बैठे श्रोता तक उनकी आवाज का जादू पहुंच रहा था और वह भी बिना माइक्रोफोन के। यदि दमदार आवाज में गाना हीराबाई ने न सीखा होता तो क्या हजारों श्रोता उस दिन निराश नहीं हो जाते!

उस्ताद शिष्यों को आदत-जिगर-हिसाब का सख्ती से पालन करने को कहते थे। कहते थे कि जिसमें ये तीन बातें नहीं हैं उसे जिंदगी भर संगीत नहीं आ सकता। आदत का मतलब रियाज यानी अभ्यास था। रोज रियाज करने से ही स्वरों को काबू में किया जा सकता है। जहां आदत छूटी वहीं संगीत छूटेगा और स्वर मिलाना असंभव न हो तो मुश्किल तो हो ही जायेगा। जिगर वैसे तो हमारे शरीर का एक अंग है, लेकिन गुरुओं की भाषा में इसका मतलब हुआ संगीत की समझ। उस गायक का जिगर दुरुस्त माना जाता था जिसे यह मालूम हो कि कौन सा स्वर कहां और कैसे लगाने से मधुरता पैदा होती है, राग कैसे बढ़ाना चाहिए? अब रह गया हिसाब। राग और ताल के नियमों की गिनती और जानकारी रखना ही हिसाब है। ताल के साथ ऐसे चलना जिसमें किसी मात्रा में गड़बड़ी न हो, सम सही जगह पर लगे–यह आखिरकार गणित ही तो है।

संगीत के नियम तो सभी संगीतज्ञों के लिए एक जैसे ही हैं, लेकिन संगीत को प्रस्तुत



कुदऊ सिंह

करने के तरीके अलग-अलग हैं। यही तरीके वे खास बातें हैं जो एक कलाकार की शैली को दूसरे कलाकार की शैली से अलग करती हैं। जिस गुरु से शिष्य सीखता है उसी की खास शैली को अपनाता है और जब यह शिष्य अपनी कला को प्रस्तुत करता है तो सुनने वालों को उसके संगीत में उसके गुरु के संगीत की झलक मिलती है। यह शिष्य जब अपने शिष्य बनाता है तो अपने गुरु से सीखा हुआ उन्हें सौंपता है। यही शास्त्रीय संगीत की परंपरा है जिसमें गुरु की शैली पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती जाती है। इसे ही घराना कहते हैं। कहा जाता है कि तानसेन के संगीतकार वंशज उत्तर भारत में अनेक स्थानों पर जाकर बस गये। जहां बसे वहां उन्होंने संगीत की परंपरा को जारी रखा। इसलिए कई गुरुओं से कई घरानों का जन्म हुआ। जिस स्थान पर गुरु रहते थे उसी स्थान से उनकी शैली जानी जाती थी। इसलिए संगीत में घरानों के नाम जगहों के नाम पर पड़े। उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में खयाल गायकी के कई प्रसिद्ध घराने हैं जैसे आगरा, ग्वालियर, पटियाला, किराना, सहसवान, जयपुर और भिंडी बाजार घराना। ठुमरी गायकी के लिए बनारस, लखनऊ और पंजाब घरानों को जाना जाता है। न सिर्फ गायन बल्कि वादन के भी कई घराने हैं।



नाना साहब पान्से

विभिन्न वादकों के घरानों के नाम भी उस स्थान के नाम पर हैं जिस स्थान से उनके गुरुओं और उस्तादों ने वादन की खास परंपरा शुरू की। जैसे तबले के लिए दिल्ली, अजराड़ा, पंजाब, बनारस और फर्रूखाबाद घराने जाने जाते हैं। वादकों के घरानों के नाम केवल स्थानों के नाम पर ही नहीं, बल्कि गुरुओं के नाम पर भी हैं जैसे पखावज वादन में कुदऊ सिंह घराना और नाना साहेब पान्से घराना प्रसिद्ध हैं। जहां दो स्थानों पर रहने वाले गुरुओं की शैली को एक साथ अपनाया गया वहां दोनों स्थानों के नाम पर घराना बन गया जैसे जयपुर-

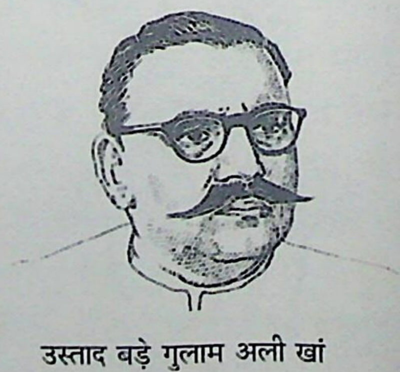
अतरौली घराना। घरानों की सूची बहुत लंबी है। जितने गुरु और उस्ताद, उतनी ही उनके संगीत की विशेषताएं, बारीकियां और विशिष्ट शैलियां और उतने ही घराने। अधिकतर गायकों और वादकों ने कई गुरुओं से संगीत सीखा है। ऐसे में उन्होंने अपने मूल घराने और अन्य घरानों की विशेषताओं को भी अपनाया।

खयाल के लिए सबसे पुराना ग्वालियर घराना माना जाता है, इसीलिए इसे आदि घराना भी कहा जाता है। ग्वालियर घराने के गायकों के पास आमतौर पर गाये जाने वाले रागों का खजाना है। ध्रुपद, खयाल, ठुमरी, टप्पा, तराना अष्टपदी, आदि में अनेक रचनाएं, आकार में आलाप, बोल, तानें, जोरदार आवाज और गायन में गंभीरता के साथ सादगी इस घराने की विशेषताएं हैं।


उस्ताद अल्लादिया खां

तानसेन और उनके पुत्र विलास खां से इस घराने की शुरुआत मानी जाती है। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में ग्वालियर में मुकंदराम पांडे के घर एक बालक ने जन्म लिया। उसका नाम रखा गया रामतन्ना मिश्र। प्यार से लोग उसे तन्ना कहकर पुकारते थे। तन्ना ने स्वामी हरिदास से संगीत सीखा। जब वह बड़े हुए तो राजा मानसिंह तोमर के दरबार में गाने लगे। राजा मानसिंह स्वयं एक अच्छे ध्रुपद गायक थे। अकबर ने जब तन्ना के गाने की तारीफ सुनी तो उन्हें आगरा में अपने दरबार में बुलाया। तन्ना का गायन सुनकर अकबर इतने खुश हुए कि उन्होंने तन्ना को तानसेन की उपाधि देकर सम्मानित किया।

जयपुर घराना कठिन तानों और अप्रचलित तथा दुर्लभ रागों के लिए जाना जाता है। राग परज, टंक, सुहा, सिंदूरा, आदि कुछ ऐसे राग हैं जो जयपुर घराने की धरोहर हैं। इस घराने में ध्रुपद और खयाल गायन ही मुख्य रूप से अपनाए गये हैं। जयपुर घराने से ही पटियाला घराना और अल्लादिया खां घराना निकले। अल्लादिया खां साहब की परंपरा में सितारवादक बरकतुल्ला खां, किशोरी अमोनकर की गुरु और मां मोगूबाई कुर्डीकर, मल्लिकार्जुन मंसूर और बाल गंधर्व


उस्ताद बड़े गुलाम अली खां



उस्ताद फैय्याज़ खां

जैसे अनेक संगीतज्ञ आते हैं। पटियाला घराना पंजाब में पटियाला रियासत में पनपा। इस घराने के गायकों में ग्वालियर, दिल्ली, जयपुर और लखनऊ घरानों की विशेषताएं मिलती हैं। बड़े गुलाम अली खां इस घराने के प्रसिद्ध गायकों में से थे। इन सबसे अलग आगरा घराने में श्रृंगार, प्रेम और भक्ति पर जोर दिया गया है। एक जमाने में आगरा घराना इसी कारण से रंगीला घराने के नाम से प्रसिद्ध था। उस्ताद फैय्याज़ खां ने आगरा घराने की परंपरा की नींव रखी। आगरा घराने की बहुत सी बातें ग्वालियर घराने से मेल खाती हैं। आगरा घराने के गायक मानते हैं कि मोहम्मद शाह रंगीले के दरबारी गायक कायम खां के पुत्र घग्घे खुदाबक्श ने ही इस घराने में खयाल गायकी शुरू की। इससे पहले यहां ध्रुपद, धमार, होरी ही गायी जाती थी। इस घराने के गायकों में भास्कर बुआ बखले, एस. एन. रातनजंकर, अता हुसैन खां, उस्ताद विलायत हुसैन खां, सुमति मुटाटकर, माणिक वर्मा, आदि नाम शामिल हैं।

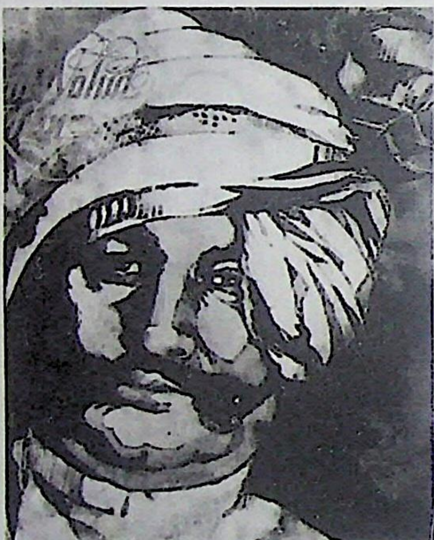
उत्तरप्रदेश में सहारनपुर के पास किराना नाम का एक कस्बा है। जहांगीर के समय में एक बार भयंकर बाढ़ आई। लोगों के घर-बार नष्ट हो गये। तब जहांगीर ने कई संगीतज्ञों को इसी कस्बे में बसाया था। उस्ताद बंदे अली खां बीनकार से किराना घराने की शुरुआत मानी जाती है। यहीं पर बसे उस्ताद अब्दुल करीम खां और उनके भांजे अब्दुल वहीद खां ने किराना घराने को आगे बढ़ाया। उस्ताद अब्दुल वहीद खां दिन और शाम के वक्त अससर राग तोड़ी और राग दरबारी का ही रियाज किया करते थे। एक बार उनसे किसी ने पूछा कि वह केवल ये दो राग ही क्यों अलापते रहते हैं। इस पर उन्होंने तपाक से जवाब दिया कि यदि दिन का समय हमेशा ही बना रहे तो वह दूसरा राग यानी दरबारी गाना छोड़ देंगे।



उस्ताद अब्दल करीम खां

याद रहे कि राग तोड़ी दिन का और दरबारी मध्य रात्रि का राग है। उस्ताद अब्दुल वहीद खां ने आगे कहा कि राग दरबारी का अभ्यास तो उन्हें इसलिए करना पड़ता है क्योंकि दिन के बाद रात आती है। उनका कहना था कि पूरी जिंदगी भी एक राग को अच्छी तरह जानने के लिए काफी नहीं है। उस्तादों की स्वयं की लगन का यह हाल था तो अपने शिष्यों की लापरवाही वे कैसे बर्दाश्त कर सकते थे!

उस्ताद अब्दुल करीम खां ने रोशनआरा बेगम, सुरेश बाबु माने और सवाई गंधर्व जैसे कलाकारों को तैयार किया। सवाई गंधर्व के शिष्यों में गंगूबाई हंगल और पंडित भीमसेन जोशी का नाम आज सारी दुनिया जानती है। उस्ताद अब्दुल वहीद खां के शिष्यों में उस्ताद अब्दुल करीम खां की बेटी हीराबाई बारोडकर थीं जिन्होंने समय आने पर माणिक वर्मा और प्रभा अत्रे को भी संगीत सिखाया। इस तरह संगीतज्ञों का वंशवृक्ष पनपता रहता है।



उस्ताद अब्दुल वहीद खां

पहले के समय में बहुत से संभ्रांत परिवारों में गाना-बजाना और नाचना भला काम नहीं माना जाता था। लड़कियों को शिक्षा तो ऐसे भी नहीं दी जाती थी, फिर उनका संगीत और नृत्य सीखने का सवाल ही कहां पैदा होता। ऐसे वातावरण में भी पारंपरिक संगीतज्ञ परिवारों ने अपनी पुत्रियों और अन्य शिष्याओं को संगीत सिखाया, भले ही ऐसे संगीतज्ञ संख्या में बहुत कम थे। किराना घराने के उस्ताद अब्दुल करीम खां की बेटी हीराबाई बारोडकर और मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खां की पुत्री अन्नपूर्णा देवी तथा सिद्धेश्वरी देवी, रसूलन बाई, अख्तरी बाई अर्थात् बेगम अख्तर, आदि की संगीत के प्रति लगन और जी तोड़ मेहनत ने उन्हें बुलंदी तक पहुंचाया।

दक्षिण भारत में केरल के संगीतज्ञ परिवार में जन्मी एन. राजम की संगीत के प्रति प्रबल इच्छा और श्रद्धा ने तो उन्हें कर्नाटक संगीत से उत्तर भारतीय संगीत की ओर ही मोड़ दिया। उनके पिता श्रीनारायण अय्यर कर्नाटक गायन के साथ-साथ वीणा और वायलिन बजाना भी जानते थे। एन. राजम बहुत छोटी उम्र से ही अपने बड़े भाइयों को वायलिन बजाते देखती थीं। चार वर्ष की उम्र से ही उन्होंने वायलिन सीखना शुरू किया और चौदह वर्ष की उम्र तक आते-आते वह कर्नाटक शैली में अच्छा वायलिन बजाना

सीख चुकी थीं। एक दिन उनकी सहेली ने उन्हें हिंदुस्तानी संगीत के कुछ रिकार्ड सुनाए। इनमें एक रिकार्ड ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध गायक पं. ओंकारनाथ ठाकुर का था। एन. राजम को पंडित ओंकारनाथ जी की आवाज ने मंत्रमुग्ध कर दिया और उन्होंने फैसला किया कि किसी न किसी तरह उन्हें पंडित जी से हिंदुस्तानी संगीत सीखना ही है।

उनकी इस लगन के चलते पूरे परिवार को मुंबई आकर बसना पड़ा। धन की कमी, बीमारी और उस पर कहीं सफलता हाथ न लगने की लाचारी थी। लेकिन एन. राजम पीछे हटने वालों में से नहीं थीं। सुबह चार बजे वायलिन का रियाज करतीं, घर के कामकाज में हाथ बंटातीं, पढ़ाई करतीं, फिर दिन में टाइपिंग, शार्टहैंड सीखतीं और शाम को हिंदुस्तानी गायन सीखतीं। दो स्थानों पर कर्नाटक संगीत सिखातीं और रात के आठ बजे तक वापस घर लौटतीं। लोगों को यह जानकर आश्चर्य होता था कि पं० ओंकारनाथ जी तो गायक हैं, कभी वायलिन बजाया नहीं, फिर एन. राजम उनसे वायलिन कैसे सीखती थीं। दरअसल एन. राजम पंडितजी के कंठ से निकले हुए स्वरों को हू-ब-हू वायलिन पर उतारती थीं। कर्नाटक संगीत के रागों और हिंदुस्तानी संगीत के रागों में काफी अंतर है, लेकिन राजम रागों का चलन, उनका रूप तुरंत समझ लेतीं थीं। राग समझाते हुए पंडित ओंकारनाथजी पहले उसका रूप समझाते थे, फिर स्वरावली गाते थे और एन. राजम वही स्वर वायलिन पर उतारती थीं। लेकिन पंडितजी की गायकी के भावों को वायलिन पर उतारना कठिन काम होता था। पंडित ओंकारनाथ जी तब तक आगे नहीं सिखाते थे जब तक कि राजम उनके मन लायक संगीत पैदा नहीं करती थीं। कभी-कभी तो उन्हें एक ही टुकड़े को सही तरीके से प्रस्तुत करने में हफ्तों लग जाया करते थे। गुरु और शिष्य के बीच इस तरह का संबंध लगभग सभी संगीतज्ञों के बीच बना जहां धैर्य, मेहनत और लगन का होना दोनों ओर से आवश्यक था।



एन. राजम

ग्वालियर घराने की शुरुआत उस्ताद नत्थन पीरबख्श से मानी जाती है। इस परंपरा में शंकरराव पंडित, बालकृष्ण बुआ इचलकरंजीकर, वासुदेव जोशी सहित अनेक नाम हैं। पं० विष्णु दिगंबर पलुस्कर बालकृष्ण बुआ के शिष्य थे और पं० पलुस्कर पं० ओंकारनाथ

ठाकुर जी के गुरु थे। पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। भातखंडे जी के प्रयास से पूरे भारत में भातखंडे संगीत विद्यालयों की नींव रखी गयी। इन्होंने भारत भर में घूम-घूमकर कई उस्तादों से उनकी अनमोल रचनाएं एकत्र कीं और उनकी स्वरलिपियां प्रकाशित कीं। भातखंडे जी के शिष्यों में राजाभैया पूछवाले और श्रीकृष्ण रातनजंकर बहुत प्रसिद्ध हुए।



पं. कृष्णराव शंकर पंडित

ग्वालियर घराने के जन्मदाता नत्थन पीरबख्श के दो पुत्र थे कादिरबख्श और पीरबख्श। कादिरबख्श के तीन पुत्र थे हस्सू खां, हद्दू खां और नत्थू खां। ये तीनों भाई ग्वालियर के दरबारी गायक थे। नत्थू खां ने निसार हुसैन को गोद लिया और संगीत सिखाया। निसार हुसैन के तीन मुख्य शिष्य थे शंकर पंडित, रामकृष्ण बुआ वझे और भाऊराव। शंकर पंडित के शिष्यों में कृष्ण राव शंकर पंडित और राजाभैया पूछवाले प्रमुख थे। सुप्रसिद्ध गायक लक्ष्मण कृष्ण राव पंडित कृष्णराव जी के सुपुत्र हैं जिन्होंने अपनी पुत्री मीता पंडित को संगीत में आगे बढ़ाया। इस तरह एक गुरू से अनेक शिष्य और उन अनेक शिष्यों से और भी शिष्य हुए। यही संगीत की वंश-परंपरा है जिसे हम घराना कहते हैं।

प्रसिद्ध सरोदवादक उस्ताद अलाउद्दीन खां बचपन से ही मस्तमौला थे। साधु-संन्यासियों की संगत उन्हें बहुत पसंद थी। मां पाठशाला भेजतीं, लेकिन अलाउद्दीन खिसक लेते मंदिर की ओर जहां साधु लोग सितार बजाया करते थे। पिता सादु खां भी सितार बजाते थे। एक दिन पाठशाला के हेडमास्टर ने घर आकर शिकायत की कि अलाउद्दीन तो पाठशाला आता ही नहीं है। इस पर उनकी मां को बहुत गुस्सा आया। तीन दिन तक हाथ-पैर बांधकर रखा, खाना नहीं दिया और खूब पीटा। अलाउद्दीन घर से भाग निकले और एक साधु बाबा की मदद से जा पहुंचे प्रसिद्ध ध्रुपदिये लूले गोपाल जी के यहां। लूले गोपाल जी ने उन्हें तीन सौ आठ पलटे तैयार



उस्ताद अलाउद्दीन खां

करवाये। इससे उन्हें स्वर साधना आ गया। लूले गोपाल अधिक दिन नहीं जी पाये। प्लेग से उनके मरने के बाद अलाउद्दीन उस्ताद हाबूदत्त के घर गये। हाबूदत्त कई प्रकार के वाद्य बजाते थे। उनसे अलाउद्दीन खां ने सबसे पहले वायलिन सीखा। उन दिनों संगीत नृत्य थियेटरों में खूब जमता था। इसलिए उन्होंने मिनर्वा थियेटर में एक रुपये महीने पर नौकरी भी की। ढाई साल तक हाबूदत्त से सीखने के बाद अलाउद्दीन खां ने उस्ताद अहमद अली के घर की राह ली। उनके यहां खाना बनाने से लेकर घर-बाहर के सभी तरह के काम अलाउद्दीन ने किये। उस्ताद जो बजाते उसे वह सुना करते थे। जब भी घर के काम से समय मिलता तो वही सुना हुआ बजाते। एक दिन उस्ताद अहमद अली घर लौटे तो पाया कि राग तोड़ी बजाई जा रही है। बहुत नाराज हुए कि वाद्य पर हाथ तैयार नहीं है तब बजाना कैसे शुरू कर दिया। पुराने समय में जब तक स्वर को कंठ या वाद्य से साधना शिष्यों को अच्छी तरह नहीं आ जाता था तब तक गुरु आगे बढ़ने की आज्ञा नहीं देते थे। सरगम और अलंकार ही वह शुरुआती चीजें हैं जो स्वर साधने में मददगार हैं, इसलिए इन्हीं का अभ्यास महीनों और कभी-कभी तो वर्षों तक करना पड़ता था।

इस तरह अनेक दिक्कतें सहते-सहते और अपने गुरुओं की आज्ञा का पालन करते-करते अलाउद्दीन मैहर पहुंचे। मैहर एक छोटी सी रियासत थी जिसके राजा संगीत के शौकीन थे। अलाउद्दीन यहीं बस गये। पुत्र उस्ताद अली अकबर खां को सरोद सिखाया और पुत्री अन्नपूर्णा देवी को सुरबहार। बाद में अन्नपूर्णा देवी का विवाह अलाउद्दीन जी के शिष्य प्रसिद्ध सितार वादक पंडित रविशंकर जी से हुआ। मैहर के महाराजा, पं. निखिल बनर्जी, पं. रविशंकर, पं. पन्नालाल घोष और अनेक नामी संगीतज्ञ अलाउद्दीन जी के शिष्य रहे हैं। उनके एक शिष्य सरोद वादक पं. ज्योतिन भट्टाचार्य ने एक जगह कहा है कि बाबा यानी उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब मानते थे कि शास्त्रीय संगीत किसी आम के पेड़ के समान है जिसे बढ़ने में समय लगता है, लेकिन एक बार बढ़ जाने पर इसे खुद तो बढ़िया फल देने में आनंद आता ही है दूसरों को भी आनंद मिलता है। बाबा ने उनसे यह भी कहा था कि कभी अहंकार मत करना। अहंकार हो तो ठाकुर जी यानी ईश्वर से माफी मांग लेना। ईश्वर देते हैं, जांचते हैं, फिर ले लेते हैं। किसी का बजाना सुनकर कभी हंसना मत क्योंकि तुम्हारा बजाया हुआ सुनकर वह भी हंस सकता है।

एक बार की बात है बाबा एक जलसे में सरोद बजाने गये। उन्होंने देखा कि लोग सुन तो रहे हैं मगर खाना-पीना भी चल रहा है। उन्होंने बजाना बंद कर दिया। बोले—मैं

पशुओं के आगे नहीं बजा सकता। जाहिर है शास्त्रीय संगीत आज के आधुनिक कान-फोड़ू शोरशराबे वाले संगीत की तरह नहीं है। उसके लिए एकाग्रता चाहिए, कलांकार में भी और सुनने वाले में भी। पंडित ज्योतिन भट्टाचार्य ने बाबा के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि वह वज्र के समान कठोर थे, लेकिन फूल के समान कोमलता भी उनमें थी। सिखाने के समय वे एकदम कठोर हो जाया करते थे। अपने पोते मुहम्मद आशीष को सिखाते समय उससे गलती हो जाने पर पहले उसे मारते फिर खुद रोने लगते।


पं. पन्नालाल घोष

पन्नालाल घोष को संगीत बचपन से ही विरासत में मिला। सितार, तबला और पखावज वादक पं. हरि कुमार घोष उनके दादा थे और पिता अक्षय कुमार घोष सितार वादक थे। पन्नालाल घोष ने अपने मामा भावरंजन मजूमदार से शास्त्रीय गायन भी सीखा। पन्नालाल घोष के बचपन में दो अजीब घटनाएं घटीं जिनसे इशारे-इशारे में ही उन्हें यह मालूम हुआ कि संगीत ही उनके जीवन का लक्ष्य है। एक बार नदी के किनारे नौ वर्ष के पन्नालाल खेलने के लिए लकड़ी ढूंढ रहे थे। लकड़ी तो नहीं मिली लेकिन नदी में तैरती हुई एक बांसुरी उनके हाथ लग गयी। इसी घटना के दो वर्ष बाद पन्नालाल जी को एक साधु मिले जिनके एक हाथ में शंख और दूसरे में बांसुरी थी। साधु ने पन्नालाल जी से बांसुरी बजाने को कहा। पन्नालाल ने बांसुरी बजाई और साधु ने प्रसन्न होकर वह बांसुरी उन्हें देते हुए कहा कि संगीत ही उन्हें मुक्ति देगा।

पन्नालालजी 1928 में स्वाधीनता संग्राम में भी शामिल हुए। उन्होंने पहलवानी, मुक्केबाजी, लाठी चलाना आदि भी सीखा, लेकिन संगीत का साथ नहीं छोड़ा। 1937 में न्यू थियेटर में नौकरी करने के दौरान वह अपने गुरु खुशी मोहम्मद खां से मिले। फिर उन्होंने गिरिजा शंकर चक्रवर्ती से भी संगीत सीखा। प्रसिद्ध सितार वादक उस्ताद इनायत खां, सरोद वादक उस्ताद अमीर खां, सारंगी वादक उस्ताद बादल खां और उस्ताद फैय्याज़ खां, अब्दुल करीम खां, मजीद खां और पं. तारापद चक्रवर्ती जैसे कई संगीतज्ञों का साथ पन्नालालजी को मिला। इस बीच उनका मन अध्यात्म की ओर मुड़ चला था। अपने अंतिम

दिनों में उन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु विवेकानंद के शिष्य स्वामी बृजनंद जी महाराज से संन्यास लेने की इच्छा प्रकट की। लेकिन उनके गुरु ने उनसे कहा कि उनके लिए संगीत ही अध्यात्म है। वही धर्म और कर्तव्य है और उसी से उन्हें मोक्ष प्राप्त होगा। कुछ नये राग जैसे राग दीपावली, पुष्पचंद्रिका, हंसनारायणी, चंद्रमौलि, पंचवटी, आदि पन्नालाल घोष ने ही संगीत जगत को दिये। संगीत जगत में जहां कुछ कलाकारों ने विरासत के रूप में संगीत को पाया और उसे आगे बढ़ाया वहीं कुछ ने संगीत को ईश्वर तक पहुंचने का रास्ता समझा। प्रसिद्ध बांसुरी वादक पन्नालाल घोष उनमें से एक थे।

आज जब हम 33 वर्षीय प्रसिद्ध ध्रुपद गायक उस्ताद फैयाज़ वसीफुद्दीन डागर को सुनते हैं तो उनके गायन में उनका अपना व्यक्तित्व तो दिखता ही है, साथ ही पिछली 20 पीढ़ियों से चली आ रही ध्रुपद परंपरा की छाप भी साफ झलकती है। उस्ताद फैयाज़ वसीफुद्दीन डागर के पुरखों में उनके दादा उस्ताद नसीरुद्दीन डागर, नाना उस्ताद हुसैनुद्दीन डागर, उस्ताद रहीमुद्दीन डागर, उस्ताद अमीनुद्दीन डागर और जिया मोहिउद्दीन डागर थे जो उदयपुर घराने से ताल्लुक रखते थे। उस्ताद फहीमुद्दीन डागर, उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर और उस्ताद सैयदुद्दीन डागर की गायकी को उस्ताद फैयाज़ वसीफुद्दीन डागर अब भी ध्रुपद परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं। इनके गायन में चाचा से मिला प्रशिक्षण, पिता उस्ताद फैयाज़ुद्दीन डागर की तरह आवाज और अपने पूर्वजों की खास शैलियों की गहराई से पकड़ ही उस डागरवानी परंपरा को आज भी जीवित रखे हुए है जो उदयपुर के दरबारी ध्रुपदियों ने शुरू की थी। ध्रुपद के पारंपरिक घरानों में चार वाणियां या शैलियां प्रसिद्ध हैं। अकबर बादशाह के दरबार में चार गुणी गायकों पर चारों वाणियों के नाम रखे गये। ये चार गायक थे तानसेन, डागुर गांव के निवासी ब्रजचंद ब्राह्मण, खंडहार नाम के स्थान के निवासी राजा समोखन सिंह और नौहार निवासी श्रीचंद राजपूत। तानसेन गौड़ ब्राह्मण थे, इसलिए ध्रुपद की उनकी वाणी का नाम गौड़ीय पड़ा जो बाद में गोबरहारी कहलाया। बाकी तीनों गायकों की वाणी का नाम उनके स्थान के नाम पर डागरवाणी, खंडहार वाणी और नौहारवाणी पड़ा।

शहनाई नवाज उस्ताद बिसमिल्लाह खां ने अपने मामा अलीबख्श खां से शहनाई सीखी। बिसमिल्लाह खां की पैदाइश बिहार के डुमरांव गांव की है, लेकिन तीन-चार वर्ष की आयु में ही वह अपने ननिहाल बनारस आ गये थे। बनारस घराने के बिसमिल्लाह खां के जीवन में घटी एक घटना है जो यह बताती है कि कलाकार की कला की कोई निश्चित सीमा नहीं है। वह घरानों में बंधी जरूर है, लेकिन समय और मन के भावों के अनुसार

कभी-कभी बंधन ढीले पड़ जाते हैं और अन्य शैली को जगह देते हैं। 1948 की बात है। मुंबई में किराना घराने के उस्ताद करीम खां के खानदान के लोग और शिष्य मिलकर खां साहब की बरसी मना रहे थे। उस्ताद बिस्मिल्लाह खां को वहां शहनाई बजाने को कहा गया। बिस्मिल्लाह खां साहब ने कोलकाता में 1936-37 में उस्ताद करीम खां का गायन सुना था। उनकी गायी हुई मियां की तोड़ी बिस्मिल्लाह खां के मन में बसी हुई थी। उन्होंने वही बजाई। बजाते-बजाते कुछ ऐसा हुआ कि बिस्मिल्लाह खां साहब की आंखें नम हो आईं मगर उन्होंने आंसुओं को भीतर ही जज़्ब कर लिया। श्रोता अलग भावुक हो उठे। सभागार में एक अजब सा सन्नाटा था। जब मियां की तोड़ी खत्म हुई तो खां साहब भारी मन से मंच से उठे, लेकिन श्रोताजन तो जैसे सुध-बुध खो बैठे थे। कोई गुमसुम था, कोई रो रहा था, तो कोई कह रहा था कि कौन कहता है कि उस्ताद करीम खां मर गये.... वह तो जिंदा हैं। बिस्मिल्लाह खां संगीत और अपने धर्म को एक ही मानते थे। संगीत, खुदा और नमाज़ उनके लिए एक ही थे। उनके शब्दों में उनकी नमाज़ थी सात शुद्ध और पांच कोमल स्वर।



उस्ताद बिस्मिल्लाह खां

संगीत के घरानों में गुरु-शिष्य परंपरा जहां शिष्य को गुरु भक्ति करना सिखाती है वहीं गुरु को शिष्य के प्रति प्रेम से भर भी देती है। सुप्रसिद्ध वायलिन वादक पंडित वी.जी. जोग ने आज तक एक वायलिन सहेज कर रखी है जो उन्हें बाबा ने आशीर्वाद स्वरूप दी थी। हुआ यूं कि पंडित वी.जी. जोग ने उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब के जन्म दिन पर आयोजित एक कार्यक्रम में वायलिन बजाई। कार्यक्रम के बाद बाबा यानी उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब रोने लगे। जाहिर है वह इतनी खुशी रोक नहीं पाए। बोले - मैं गरीब हूं, क्या दे सकता हूं। यह वायलिन रख लो। वह वायलिन पंडित वी.जी. जोग ने गुरु का प्रसाद समझकर माथे से लगा लिया। पंडित जोग का कहना है कि अच्छा कलाकार बनने के लिए पुराने ढंग की गुरु-शिष्य परंपरा जरूरी है जहां सामने बैठकर संगीत सीखा जाए। 1949 में जब पहली बार वह उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब के यहां मैहर गये तब सीखते समय वह कागज-कलम लेकर बैठे और जो कुछ उस्ताद बोलते गये वह उसे लिखने लगे। उस्ताद

जी ने यह देखा तो उन्होंने गुस्से में पं. जोग के कागज फेंक दिए। दो दिन तक पं. जोग को कुछ भी याद नहीं हुआ, लेकिन तीसरे दिन जो याद हुआ उसे वह कभी भूल नहीं पाए।



पं. मल्लिकार्जुन मंसूर

संगीत के घरानों में गुरु और शिष्य का संबंध तो इतना पक्का होता है कि शिष्य कहीं भी रहे गुरु उसकी स्मृति में हमेशा रहता है। अपनी सफलता पर शिष्य को गुरु पर गर्व होता है जिसे सबके सामने लाना और सबके साथ बांटना वह अपना सौभाग्य समझता है। पं. मल्लिकार्जुन मंसूर अतरौली घराने के बदरूद्दीन खां के शिष्य रहे हैं। बदरूद्दीन खां को लोग मंजी खां के नाम से जानते हैं। एक बार किसी समारोह में मल्लिकार्जुन मंसूर राग जौनपुरी गा रहे थे। गाते-गाते बीच में रुके और श्रोताओं को बताया कि बंदिश का अंतरा वह अपने गुरु मंजी खां के खास अंदाज में गा रहे हैं। थोड़ी देर बाद फिर रुके और उन्होंने कहा कि आगे जो वह गाने जा रहे हैं वह मंजी खां ने अपने गुरु उस्ताद रहमत खां से सीखा था जिनसे वह कभी नहीं मिले थे। गर्व के साथ वह खुशी जो उन्होंने श्रोताओं के साथ बांटी संगीत की परंपरा में हर गुरु को जीवित रखती है।

हिंदुस्तानी संगीत के अन्य घरानों में पंडित जसराज का मेवाती घराना, उस्ताद रजब अली खां, उस्ताद अमीर खां और उनके शिष्यों सिंह बंधुओं तेजपाल सिंह और सुरिंदर सिंह तथा पंडित अमरनाथ का इंदौर घराना, सिद्धेश्वरी देवी, गिरिजादेवी, तथा राजन और साजन मिश्र का बनारस घराना जैसे और भी कई घराने हिंदुस्तानी संगीत को दिन-प्रतिदिन समृद्ध करने में लगे हुए हैं। ऐसे बहुत से संगीतज्ञ हैं जिनका नाम तक हमने नहीं सुना है, लेकिन वे वाकई आदर और श्रद्धा के योग्य हैं क्योंकि हमारे संगीत जगत को उन्होंने बहुत कुछ दिया है।

दरअसल बंदे अली खां बीनकार किराना घराने के मशहूर सितार वादक उस्ताद अब्दुल हलीम जाफ़र खां के शब्दों में सच तो यह है कि किसी भी संगीतकार के केवल दो ही घराने होते हैं और वे स्वर और लय हैं।

7

कर्नाटक संगीत का परिचय

भारतीय शास्त्रीय संगीत को हम दो भागों में बांट सकते हैं। एक वह जो उत्तर भारत में प्रचलित है और दूसरा वह जो भारत के दक्षिणी हिस्से में गाया-बजाया जाता है। उत्तर भारत में प्रचलित शास्त्रीय संगीत को हिंदुस्तानी या उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत और दक्षिणी भारत के संगीत को कर्नाटक संगीत कहा जाता है। तमिल में कर्नाटक का अर्थ है प्राचीन, पारंपरिक और शुद्ध। कर्नाटक शब्द का सबसे पहले प्रयोग मतंग की रचना वृहददेशी में हुआ है। वृहददेशी में कर्नाट नाम के एक राग का उल्लेख है। नान्यदेव ने बाद में भरत-वर्तिका नाम के ग्रंथ में भी कर्नाटक शब्द का प्रयोग किया।

तेरहवीं शताब्दी के शुरू में पंडित शारंगदेव ने संगीत रत्नाकर नाम के ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ के रचे जाने तक पूरे भारत में संगीत की एक ही पद्धति प्रचलित थी। ऐसा माना जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण भारत के देवगिरी नाम के स्थान पर कब्जा करने के बाद ही हिंदुस्तानी संगीत और कर्नाटक संगीत नाम की दो प्रणालियां पैदा हुईं। हिंदुस्तानी संगीत पर मुगल संगीत का प्रभाव पहले से ही थोड़ा-बहुत था, क्योंकि उत्तर भारत का एक बड़ा हिस्सा मुगल शासकों के हाथ में था। मुगल दरबारों में संगीतज्ञों को बहुत मान-सम्मान दिया जाता था। यही नहीं कई सुल्तान न सिर्फ संगीत के शौकीन थे बल्कि खुद भी गाते-बजाते थे।

बारहवीं शताब्दी में ही मुहम्मद गौरी पानीपत की लड़ाई में जीतकर दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसके दरबारी संगीतज्ञों ने तुर्की, अरब और फारस की धुनों को भारतीय संगीत में मिलाकर नये राग बनाए जैसे तुरुष्कतोड़ी, तुरष्कगौड़, हिजाज, शहाना, आदि। इन सब रागों का उल्लेख संगीत रत्नाकर में भी मिलता है। लेकिन दक्षिण भारत के संगीत में किसी प्रकार की मिलावट नहीं होने पाई।

तेरहवीं शताब्दी के बाद का समय भक्तियुग कहलाता है। इस समय पूरे भारत

में संतों, कवियों, आदि ने उस समय के प्रचलित रागों में हजारों भक्ति गीतों की रचना की। गीतों की भाषा बहुत आसान थी जिससे वह साधारण से साधारण लोगों की समझ में आ सके। इसलिए जहां उत्तर भारत में अवधी, भोजपुरी, आदि में गीत रचे गये, वहीं दक्षिण में आम लोगों की भाषा तेलुगु, तमिल और कन्नड़ में रचनाएं सामने आईं।

चौदहवीं से सोलहवीं शताब्दियों के मध्य विद्यारण्य, रामामात्य और विट्ठल नाम के विद्वान संगीतज्ञों ने कर्नाटक संगीत को लोकप्रिय बनाया। पुरंदरदास विट्ठल ने संस्कृत और कन्नड़ में कई हजार गीत रचे। उन्होंने उपनिषदों और पुराणों की गहरी और कठिन बातों को न सिर्फ आसान शब्दों में लिखा बल्कि उनकी सरल धुनें भी बनाईं। यह बात पुरंदरदास के मन में बैठ गयी कि संगीत के माध्यम से संदेश, उपदेश, आदि आसानी से लोगों तक पहुंचाए जा सकते हैं, और उन्होंने कई स्वरावलियों और अलंकारों की रचना भी की। बच्चों के लिए कई लक्षण गीत और पिल्लारी गीत पुरंदरदास ने रचे। तमिल में पिल्लै का अर्थ बच्चा ही होता है।

भद्राचल रामदास सत्रहवीं शताब्दी के संत कवि हुए हैं। इन्होंने लोक गीतों से प्रेरणा पाकर कई नये और सरल गीतों की रचना की। इन्हें लोग गोपन्ना भी कहते थे। भद्राचल रामदास के समय तक कई कीर्तन रचे जा चुके थे। इसलिए इनके गीतों में कीर्तन का प्रभाव मिलता है। भद्राचल रामदास तेलुगु में गीत रचते थे, लेकिन कुछ सरल भक्ति गीत इन्होंने संस्कृत में भी रचे। इसके अलावा कई दिव्यनाम कीर्तन भी भद्राचल रामदास ने रचे। कीर्तनों में शुद्ध रूप से ईश्वर की भक्ति और उससे प्रेम का वर्णन होता है।

दक्षिण भारत में अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के मध्य तीन संत कवि बहुत प्रसिद्ध हुए जिन्हें त्रिमूर्ति या त्रिमणि भी कहा जाता है। ये थे श्यामा शास्त्री, त्यागराज और मुथ्थुस्वामी दीक्षितर।

श्यामा शास्त्री संस्कृत और तेलुगु भाषा के ज्ञानी थे। वह कामाक्षी देवी के भक्त थे। ताल और लय पर उन्हें पूरा अधिकार था। उनके इस ज्ञान के कारण लोग कहते थे कि कामाक्षी देवी सदा उनके साथ रहती हैं। श्यामा शास्त्री ने लगभग 300 कृतियों, स्वरजतियों और वर्णों की रचना की। ये सभी रचनाएं तोड़ी, धन्यासी, भैरवी, आनंदभैरवी, कांबोजी और कल्याणी जैसे लोकप्रिय रागों में हैं। श्यामा शास्त्री ने मंजी और चिंतामणि जैसे दुर्लभ रागों में भी कई कृतियों की रचना की। एक बार वह अपने शिष्य अलासुर कृष्णय्यर के साथ मदुरई जा रहे थे। उन दिनों सफर बहुत लंबे हुआ करते थे। कई-कई

दिन यात्रा में ही लग जाते थे। श्यामा शास्त्री ने इस लंबी यात्रा में समय नष्ट नहीं किया। उन्होंने यात्रा के दौरान ही मीनाक्षी देवी की प्रशंसा में नौ कृतियां रच डालीं और उन्हें नवरत्नमालिका नाम दिया।

संत त्यागराज अपनी पंचरत्न कृति के कारण बहुत ही प्रसिद्ध हुए। कृति वह रचना है जिसमें शब्द यानी साहित्य और संगीत होता है। कृतियां किसी न किसी राग और निश्चित ताल में निबद्ध होती हैं यानी बंधी हुई होती है। कविता के शब्द या पद जब संगीत में बांधे जाते हैं तो कृति बनती है। कृति का साहित्य या संगीत बदला नहीं जा सकता। वह उसी रूप में रहता है जिस रूप में उसे उसके रचयिता या कवि ने ढाला। कृति के रचयिता को वाग्गेयकार भी कहते हैं। संत त्यागराज की अधिकतर रचनाएं तेलुगु भाषा में रची गयीं हैं। वे रामभक्त थे इसलिए उनकी अधिकतर रचनाएं भगवान राम की प्रशंसा में हैं।

मुथ्थुस्वामी दीक्षितर ने कई कृतियों और रागमालिकाओं की रचना की। रागमालिका वह रचना होती है जिसमें कई खंड या भाग होते हैं और हर भाग एक अलग राग में होता है, लेकिन ताल सभी खंडों के लिए एक ही होती है। रागमालिका में भक्ति साहित्य होता है। इसमें कम से कम चार राग हो सकते हैं। इसी तरह की एक और रचना कर्नाटक संगीत में प्रचलित है जिसे तालमालिका कहते हैं। इस रचना में सभी खंड अलग-अलग तालों में लेकिन एक ही राग में निबद्ध होते हैं।

रागतालमालिका वह रचना है जिसमें तालमालिका और रागमालिका दोनों प्रकारों की झलक दिखती है। इसमें हर खंड अलग राग और अलग ताल में निबद्ध किया जाता है। कर्नाटक संगीत में रामास्वामी दीक्षितर की रची हुई एक रागतालमालिका में 108 राग

कर्नाटक संगीत के कुछ राग और उन्हें गाने का समय

राग का समय	राग का नाम
किसी भी समय	भैरवी, कांबोजी, आरभी, चक्रवाक, आदि
सुबह	बिलाहारी, केदारम्, धन्यासी, आदि
सूर्योदय से पहले	रेवगुप्ति, मलयमारूत, वलजी, देशाक्षी, आदि
दोपहर	श्रीराग, मध्यमावती, मुखारी, बेगडा, आदि
शाम	बसंत, नटकुरंजी, पूर्वाकल्याणी, आदि

और ताल हैं। कर्नाटक संगीत के ये तीनों ही रूप याद रखने और गायन की दृष्टि से बहुत मुश्किल होते हैं। बहुत कम संगीतज्ञ हैं जो रागतालमालिकाओं, रागमालिकओं या तालमालिकाओं को अच्छी तरह प्रस्तुत कर सकते हैं। एक साथ कई रागों और कई तालों का बारी-बारी से मेल करना कोई आसान काम नहीं है।

संस्कृत भाषा के विद्धान मुथ्थुस्वामी दीक्षितर की तिरूत्तनी कृतियां बहुत ही प्रसिद्ध हैं। ये कृतियां उन्होंने भगवान सुब्रमण्यम की प्रशंसा में रची थीं। कर्नाटक संगीत के सारंगा नट, कुमुदक्रैय तथा अमृतवर्षिनी जैसे दुर्लभ रागों में रची उनकी कृतियां बेजोड़ हैं।

जिस तरह उत्तर भारतीय संगीत को मुगल शासकों के दरबारों में अच्छी खासी जगह मिली और उसमें कई बदलाव आए उसी तरह कर्नाटक संगीत को भी दक्षिण भारत के राजाओं ने सराहा और अपने महलों में कर्नाटकी संगीतज्ञों को मान-सम्मान के साथ जगह दी। ऐसे राजाओं में स्वाति तिरूनल का नाम कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्वाति तिरूनल में कई गुण थे। वह एक अच्छे संगीतज्ञ, भाषा विज्ञानी, गायक और विद्वान थे। कविता, चित्रकला और भवन निर्माण जैसे विषयों में भी उन्हें गहरी दिलचस्पी थी। उन्होंने संस्कृत, तेलुगु, मलयालम, मराठी, हिंदी और उर्दू में कई गीत रचे। कर्नाटक शैली में कई कृतियों, वर्णमों, पदमों और जावलियों की उन्होंने रचना की। वर्णम् भी रचनाओं का एक रूप है जो राग-ताल में निबद्ध होता है। पदम् और वर्णम् कर्नाटक संगीत की उच्च शैली की रचनाएं हैं। कीर्तनों में जहां ईश्वर की प्रशंसा और स्तुति की जाती है वहीं पदमों में ईश्वर तक पहुंचने के लिए प्रेम का सहारा लिया जाता है। ये रचनाएं मधुर भक्ति पर आधारित होती हैं जहां प्रेम का अर्थ श्रृंगार और अंतःमन के सौंदर्य दोनों से होता है। कुछ कवियों ने कई अन्य रोचक विषयों पर भी पदमों की रचना की है। सारंगपाणि नाम के रचयिता के कई पद एकदम ही अलग विषयों पर हैं जैसे राग सावेरी और त्रिपुट ताल में निबद्ध पद "आवालुगंटि माटल" में पौधों और जड़ी-बूटियों के नाम हैं तो राग पंतुवरालि और आदि ताल में निबद्ध पद "कडपदाटि रानीय" में विभिन्न स्थानों का वर्णन किया गया है। पदम् और जावलि सुगम संगीत की श्रेणी में आते हैं जो उत्तर भारतीय संगीत की ठुमरी और गज़ल की तरह हैं।

स्वाति तिरूनल द्वारा रची गई रागमालिकाओं में दशावतार रागमालिका प्रसिद्ध मानी जाती है। उनकी एक अन्य रचना नवरत्नमालिका भक्ति के नौ रूपों को ध्यान में रखकर रची गयी है। भक्ति के ये नौ रूप हैं : श्रवण यानी सुनना, कीर्तन यानी गाकर पूजा करना,

स्मरण यानी याद करना, पदसेवन यानी चरणों में जगह पाने की इच्छा रखना, अर्चना यानी पूजा-आरती करना, नमस्कार यानी झुकना, दास्य यानी सेवा करना, सखात्व यानी मित्रता का भाव रखना और आत्मनिवेदन यानी अपने आप को समर्पित करना। स्वाति तिरूनल की रुचि केवल कर्नाटक संगीत में ही नहीं बल्कि उत्तर भारतीय संगीत में भी थी। उन्होंने कई ध्रुपद, खयाल और ठुमरियों की भी रचना की। उनके इन्हीं गुणों के कारण उस समय त्रावणकोर दक्षिण भारत में संगीत का जाना-माना केंद्र बन चुका था।

दक्षिण भारत में संगीत को प्रचलित करने में मंदिरों की अच्छी खासी भूमिका रही है। हर मंदिर में एक बड़ा प्रांगण हुआ करता था जहां संगीत सभाएं होती थीं। साधारण लोग मंदिरों में बड़े-बड़े संगीतज्ञों से कीर्तन और कृतियां सुनने आया करते थे। संत त्यागराज के उत्सव संप्रदाय कीर्तन और दिव्यनाम संकीर्तन मंदिरों में गाये जाते थे। कृति में यदि संगीत महत्वपूर्ण माना जाता है तो कीर्तन में भक्ति से भरे हुए शब्द। कीर्तन में साहित्य अधिक महत्वपूर्ण है। कहा जाता है कि कृतियां कीर्तनों के बाद ही रची गयीं। कर्नाटक संगीत की अधिकतर रचनाओं में मुख्यतः तीन अंग होते हैं: पल्लवि, अनुपल्लवि और चरण।

पल्लवि किसी भी रचना का मुख्य भाग होता है, अनुपल्लवि उसके बाद और अंतिम भाग चरण होता है। अनुपल्लवि और चरण के बाद पल्लवि को दोहराया जाता है। किन्हीं रचनाओं में अनुपल्लवि या चरण नहीं भी हो सकते हैं। त्यागराज के कई दिव्यनाम कीर्तनों में अनुपल्लवि को छोड़ दिया गया है। कुछ कृतियों में पल्लवि और अनुपल्लवि हैं, लेकिन चरण नहीं है। जैसे मुथ्थुस्वामी दीक्षितर की राग आरभी में प्रसिद्ध कृति "श्री सरस्वती नमोस्तुते" में चरण छोड़ दिया गया है। इस प्रकार की रचनाओं में पल्लवि के बाद का भाग समस्ति चरणम् कहलाता है जिसमें अनुपल्लवि और चरण दोनों की झलक मिलती है। ऐसी अनेक प्रसिद्ध रचनाएं हैं जैसे त्यागराज की राग शंकराभरणम् में "पाहि रामचंद्र" और "श्री रघुवर दशरथे" जैसे दिव्यनाम कीर्तन जिनमें केवल पल्लवि और चरण दो ही भाग हैं।

कर्नाटक संगीत में उत्तर भारतीय संगीत से अलग एक खास बात यह भी है कि इसमें सभी रचनाएं, कृतियां और कीर्तन जो संतों या वाग्येयकारों ने रची निश्चित राग और ताल में निबद्ध होती हैं। यह कलाकार की खूबी पर है कि वह उसे अपने तरीके से उसी निश्चित राग और ताल में कैसे प्रस्तुत करता है।

कर्नाटक संगीत में सात में से दो स्वरों का उच्चारण हिंदुस्तानी संगीत पद्धति के स्वरों से कुछ अलग है जैसे रे की जगह रि और ध की जगह द। इस तरह जो सरगम बनी वह इस प्रकार हैः स, रि, ग, म, प, द, नि। इन स्वरों को गाते समय आवाज का कंपन भी हिंदुस्तानी स्वरों से ज्यादा होता है। दक्षिण के प्रकांड पंडित व्यंकटमखी को कर्नाटक संगीत का पितामह कहा जा सकता है। पंडित व्यंकटमखी ने कर्नाटकी रागों का वर्गीकरण 72 मेलों में किया। जैसे उत्तर भारतीय संगीत पद्धति में 10 ठाठ हैं। उसी तरह कर्नाटकी पद्धत्ति में 72 मेल हैं। इन्हीं 72 मेलों से कई राग बनाये गये जिन्हें जन्य राग कहा गया। कई कर्नाटकी राग उत्तर भारतीय संगीत के रागों से मिलते-जुलते हैं। उत्तर भारतीय संगीत के कई राग जो दक्षिण में गाये-बजाये जाते हैं, उनके नामों का उच्चारण भी मिलता-जुलता है। जैसे कर्नाटक संगीत में राग झिंझोटी सेंजुरुत्ति और राग काफी को राग कापी कहा गया। कुछ राग ऐसे भी हैं जिनके स्वर दोनों पद्धतियों के रागों में एक ही हैं लेकिन नाम बिल्कुल अलग हैं जैसे राग मालकौंस को कर्नाटक संगीत में राग हिंडोलम, राग भूपाली को राग मोहनम्, राग भैरव को मायामालवगौल और राग दुर्गा को राग शुद्धसावेरी कहा जाता है। कुछ उत्तर भारतीय रागों और कर्नाटक संगीत के रागों के नाम एक जैसे हैं लेकिन स्वर एकदम अलग है जैसे कर्नाटकी तोड़ी, भैरवी, कन्नड़ और शहाना। कुछ रागों के नाम दोनों पद्धतियों में एक ही हैं जैसे बिहाग, खमाज और सिंधि भैरवी। राग हंसध्वनि भी दोनों पद्धतियों में एक ही है।

कर्नाटक संगीत में मुख्य रूप से 7 तालें हैं जिनमें से प्रत्येक के पांच प्रकार हैं जिन्हें जातियां कहते हैं। ये सात ताल हैः ध्रुव, मत्य, रूपक, झंपा, त्रिपुट, अट्ट और एकताल। पांच जातियां हैः तिस्रा, चतुरश्र, खंड, मिश्र और संकीर्ण। इनके मेल से कुल 35 तालें बनती हैं। हर ताल की गति के अनुसार पांच भेद या तरीके तय किए गये हैं। यानी 35 तालों में से हरेक के पांच-पांच रूप और तैयार हो सकते हैं। इस तरह कर्नाटक संगीत में कुल 175 तालें बन सकती हैं। लेकिन प्रयोग में अधिकतर 35 तालें ही हैं। कर्नाटक संगीत में चापु ताल लोकसंगीत से आई है। चापु ताल भी चार तरह की होती है अर्थात् मिश्र चापु, खंड चापु, तिस्त्रा चापु और संकीर्ण चापु। आदि ताल एक बहुत ही प्रचलित ताल है जो त्रिपुट की चतुरश्र जाति से बनती है।

कर्नाटक संगीत समारोहों में हम दो तरह का संगीत सुनते हैं। पहला वह जो कलाकार संगीत के अपने ज्ञान, विवेक, बुद्धि से पैदा करता है। इसमें उसकी कल्पना और रचना

करने की शक्ति सामने आती है। इसे मनोधर्म संगीत कहते हैं। दूसरे तरह के संगीत को कल्पित संगीत कहते हैं। ये रचनाकारों द्वारा राग-ताल में निबद्ध रचनाएं होती हैं। ऐसी रचनाएं जिस रूप में रची जाती हैं उसी रूप में प्रस्तुत की जाती हैं।

कर्नाटक संगीत समारोहों में रागम्-तानम् और पल्लवि सबसे अधिक महत्व रखती है। कलाकार पहले राग का परिचय आलापना से कराता है। फिर तानम् शुरू होता है जो बहुत कुछ ध्रुपद के आलाप जैसा होता है। फिर कृति शुरू की जाती है जिसका पल्लवि सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग होता है। दक्षिण की द्रुतकाल और मध्यमकाल कृति लगभग वैसी ही होती है जैसे उत्तर भारत के संगीत में छोटा खयाल और बड़ा खयाल। खयाल में साहित्य कम होता है जिसमें एक-दो पंक्तियों का ही विस्तार किया जाता है, लेकिन कृति में अच्छा खासा साहित्य होता है जिसमें शब्द महत्वपूर्ण होते हैं।

उत्तर भारतीय संगीत में ताल वाद्यों का मुख्य उपयोग गायक या वादक को संगत या साथ देने के लिए होता है, लेकिन कर्नाटक संगीत में मुख्य कृति के बाद ताल वाद्यों का स्वतंत्र रूप से वादन होता है जिसमें मृंदगम्, घटम्, मंजीरा, और मोरसिंग जैसे वाद्यों के वादकों की रचना प्रतिभा और कल्पना शक्ति भी सामने आती है। गायक या वादक जब मुख्य कृति प्रस्तुत कर लेते हैं तब ताल वाद्यों की बारी आती है। एक-एक कर के सभी ताल वाद्य बजाये जाते हैं। उनमें बोलों में ही सवाल-जवाब किये जाते हैं। जब सभी वाद्य एक-एक बार बजा लिए जाते हैं तो एक चक्र पूरा होता है। इस तरह के कई चक्र हो सकते हैं जिनमें हर चक्र पिछले चक्र से छोटा होता जाता है। इसे तनि आवर्तनम् कहा जाता है। इस तरह संगत करने वाले वादकों को भी गायक या वादक के साथ अपनी कला दिखाने का पूरा अवसर मिलता है। वाद्यों पर तालों की प्रस्तुति के बाद गायक या वादक कृति की एक पंक्ति गा या बजाकर राग समाप्त करता है।

कर्नाटक संगीत में कई नामी गायक हुए हैं जैसे अरिअकुडी रामानुज आयंगर, मैसूर के. वासुदेवाचार्य, महाराजापुरम विश्वनाथ अय्यर, चेन्नई वैद्यनाथ भागवतार, एम.एस. सुब्बालक्ष्मी, एम. बालमुरलीकृष्ण, मदुरई एन. कृष्णन्, त्रिची स्वामीनाथ अय्यर, आदि।



एम.एस. सुब्बालक्ष्मी

संगीत समारोहों में संगीत के वातावरण का बनना हर संगीतज्ञ के लिए जरूरी होता है। कभी यदि बहुत ही रसिक श्रोता हुए तो संगीत का वातावरण बनने में समय नहीं लगता, लेकिन अधिकतर संगीतज्ञ अपने-अपने तरीके से इस वातावरण को बनाते हैं जिससे श्रोताओं को ओर उन्हें खुद को संगीत का पूरा आनंद मिल सके।

कुछ रागों के स्वर ऐसे होते हैं जो श्रोताओं को बांध लेते हैं और उन्हें आकर्षित करते हैं। इसलिए कई संगीतज्ञ तीव्र स्वरों वाले रागों जैसे हंसध्वनि, केदारम्, कल्याणी या नट से अपने कार्यक्रम की शुरुआत करते हैं। महावैद्यनाथ अय्यर जैसे नामी गायक कार्यक्रम की शुरुआत हमेशा राग हंसध्वनि में मुथ्थुस्वामी दीक्षितर की सुप्रसिद्ध कृति "वातापि गणपतिम्" से करते थे। कारण केवल यह नहीं था कि यह कृति भगवान विघ्नेश्वर की प्रशंसा में है बल्कि राग हंसध्वनि के तीव्र स्वर ऐसा वातावरण बनाते हैं जिसमें श्रोता पहली ही बार में मंत्रमुग्ध हो जाता है। यही कृति यदि वाग्गेयकारों द्वारा राग पुन्नगवराली या अहीरी में रची गई होती तो शायद ही कोई कलाकार उसे कार्यक्रम के शुरू में गाता। एक अन्य नामी गायम बिक्शन्दरकोविल सुब्बारायर का संगीत का वातावरण तैयार करने का तरीका अलग था। वह पहले अपने तानपूरा वादकों को मंच पर भेजते थे। 10-15 मिनट तक तानपूरा मिलाया जाता था। इतनी देरी में तानपूरे के मधुर स्वर हवा में संगीत घोल देते थे। इसके बाद ही बिक्शन्दरकोविल सुब्बारायर मंच पर आते थे। कर्नाटक संगीत के किसी भी कार्यक्रम में मुख्य राग और पल्लवि सबसे अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं, इसलिए इन्हें हमेशा कार्यक्रम के मध्य में ही प्रस्तुत किया जाता है। उत्तर भारतीय संगीत कार्यक्रमों में जैसे खयाल के बाद ठुमरी, टप्पा, धुनें आदि प्रस्तुत की जाती हैं, उसी तरह कर्नाटक संगीत में मुख्य राग के बाद पदम्, जावलि, रागमालिका और तिल्लाना जैसी रचनाएं प्रस्तुत की जाती हैं। कार्यक्रम का समापन हमेशा मंगलम् से किया जाता है। श्लोक के रूप में मंगलम् अधिकतर राग मध्यमावती या सुरूटि में होता है। मंगलम् यानी मंगल करने वाला। और हो भी क्यों न? सच बात तो यह है कि संगीत है ही कल्याणकारी और मंगलकारी!



एम. बालमुरलीकृष्ण

संदर्भ ग्रंथ

1. शीला धर (2001), द कुकिंग आफ म्यूजिक एंड अदर एस्सेज़, परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली।

2. विमलाकांत रायचौधरी (1975), भारतीय संगीत कोश, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

3. अशोक रानाडे (1997), हिंदुस्तानी म्यूजिक, नेशनल बुक ट्रस्ट ,इंडिया, नयी दिल्ली।

4. स्वामी प्रज्ञानन्द (1973), हिस्टोरिकल डेवलपमेंट आफ़ इंडियन म्यूजिक, फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, कोलकाता।

5. उस्ताद अलाउद्दीन खां (1982), मेरी कथा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

6. आचार्य बृहस्पति एवं सुलोचना बृहस्पति (1986), राग रहस्य, बृहस्पति पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली।

7. शंभूनाथ मिश्र (1991), सात सुर सत्ताइस दायरे, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली।

8. बी.सी. देव (1977), म्यूजिकल इंस्ट्रुमेंट्स, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली।

9. लक्ष्मी नारायण गर्ग (सं.) (1981), संगीत विशारद, संगीत कार्यालय, हाथरस।

10. -वही- (सं.) (1978), निबंध संगीत, संगीत कार्यालय, हाथरस।

11. प्रो. पी. सम्बामूर्ति (1995), साउथ इंडियन म्यूजिक, द इंडियन म्यूजिक पब्लिशिंग हाउस, चेन्नई।

12. शंभूनाथ मिश्र (2002), हिंदुस्तानी संगीत की घराना परंपरा, प्रकाशन विभाग, नयी दिल्ली।

13. वाद्य दर्शन (2002) संगीत नाटक अकादमी की प्रदर्शनी पुस्तिका।

14. डा. जोगेंदर सिंह बावरा, भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, एबीएस पब्लिकेशंस, जालंधर।

15. डा. ठाकुर जयदेव सिंह, भारतीय संगीत का इतिहास, संगीत रिसर्च अकेडमी, कोलकाता।

16. रेजिनॉल्ड और जमीला, द म्यूजिक आफ इंडिया, मैसी अभिनव पब्लिकेशंस।

जे. जे. ऑफसेट प्रिंटर्स, ए–२४, सैक्टर–६८, नोएडा (उ. प्र.)

एकः सूते सकलम्

NBT INDIA

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

₹ 40.00
ISBN 812373985-0
9 788123 739854
12131193